ओ३म्

यजुर्वेदीय अध्यात्म शतक

डॉ. भवानीलाल भारतीय

ओ३म्
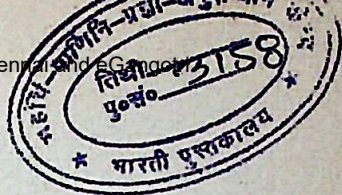
यजुर्वेदीय अध्यात्म शतक

(यजुर्वेद के चुने हुए एक सौ आध्यात्मिक मन्त्रों की सरस, धारावाही व्याख्या)

भाष्यकार

प्रो० [डॉ०] भवानीलाल भारतीय

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

भूमिका

यजुर्वेद को कर्मकाण्ड से सम्बन्धित माना जाता है। इस वेद के मन्त्रों से दर्श पूर्णमास, राजसूय, वाजपेय, अग्निहोत्र, अश्वमेध आदि विविध यज्ञों को सम्पादित किया जाता है। चालीस अध्यायों में विभक्त इस वेद में कुल मन्त्र १९७५ हैं। अधिकांश मन्त्र कर्मकाण्ड-विधायक हैं, तथापि ऐसे मन्त्रों की संख्या भी कम नहीं है जो सच्चे अर्थों में आध्यात्मिक कहे जा सकते हैं। जो विषय आत्मा और परमात्मा से सम्बन्धित है वही अध्यात्म कहलाता है और यजुर्वेद में ऐसे अनेक मन्त्र हैं जो परमात्मा के दिव्य स्वरूप, जीवात्मा तथा उसके गुण, कर्म, मन की विविध वृत्तियों जैसे आध्यात्मिक विषयों की चर्चा करते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व पंजाब विश्वविद्यालय दयानन्द शोधपीठ के अध्यक्ष-पद पर कार्य करते समय मैंने अपने एक शोधछात्र (डॉ० उमेश शास्त्री) को यजुर्वेद के अध्यात्मपरक मन्त्रों पर शोधनिबंध लिखने की प्रेरणा की थी। तब से मेरा विचार था कि यजुर्वेद के न्यूनातिन्यून एक सौ ऐसे मन्त्र सरल, सुबोध तथा चित्ताकर्षक व्याख्या के साथ प्रकाशित किए जाएँ जो मुख्यतः अध्यात्मपरक हों तथा जिनके अध्ययन, मनन एवं चिन्तन से परमात्मा के दिव्य स्वरूप, उसके गुण-कर्म-स्वभाव, जीवात्मा के कर्त्तव्य कर्म, मन के विचित्र क्रियाकलाप, परमपिता की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, मोक्ष आदि विषयों का स्पष्टीकरण हो सके। मन्त्रों के चयन का कार्य करने के पश्चात् धारावाही व्याख्या लिखना अधिक कठिन नहीं था। परिणामस्वरूप **'यजुर्वेदीय अध्यात्म शतक'** पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

इससे पूर्व भी स्वामी अच्युतानन्द सरस्वती, स्वामी जगदीश्वरानन्द तथा पं० जगतकुमार शास्त्री जैसे विद्वानों ने यजुर्वेद के शतक प्रस्तुत किए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषता तो यही है कि इसमें ऐसे मन्त्र चुने गए हैं, जो सरल, सुबोध एवं भावपूर्ण हैं। अधिकांश मन्त्रों से वेदों का नित्य स्वाध्याय करनेवाले महानुभाव सुपरिचित हैं। आशा है, वेदों के उच्च आध्यात्मिक ज्ञान को अभिव्यक्त करने में मन्त्रों की यह सुबोध तथा मनोज्ञ व्याख्या पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

माघ शु० ५ सं० २०५३ वि० —डॉ० भवानीलाल भारतीय
रत्नाकर, नन्दनवन, जोधपुर

लेखक-परिचय
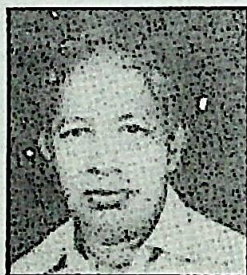
भारतीय नवजागरण में स्वामी दयानन्द तथा आर्यसमाज की भूमिका के अधिकृत व्याख्याता डॉ० (प्रो०) भवानीलाल भारतीय को लेखन के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए आधी शती व्यतीत हो चुकी है। १९२८ में राजस्थान के नागौर जिले के एक साधारण ग्राम परबतसर में उनका जन्म हुआ। उच्च शिक्षा जोधपुर में हुई। राजस्थान की कॉलेज शिक्षा-सेवा में लगभग २० वर्ष तक अध्यापन करने के पश्चात् वे पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द शोधपीठ के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष पद पर एक दशक पर्यन्त कार्य करते रहे। अध्ययन, लेखन और शोध के इस सुदीर्घ काल में उनके लगभग ८० ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं जो वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, भारतीय नवजागरण में आर्यसमाज का योगदान तथा तत् सदृश विषयों से सम्बन्धित हैं। उनके विभिन्न ग्रन्थों पर अनेक सभा-संस्थाओं ने उन्हें पुरस्कारादि से सम्मानित किया है, जिनमें आर्यसमाज का सर्वोच्च 'मेघजी भाई आर्य साहित्य पुरस्कार' भी है, जो आर्यसमाज शान्ताक्रुज, मुम्बई द्वारा उन्हें १९९२ में प्रदान किया गया। वे आर्यसमाज की संगठनात्मक प्रवृत्तियों से भी जुड़े रहे, किन्तु विगत अनेक वर्षों से वे उच्चतर वैदिक शोध, अनुसंधान तथा लेखन के लिए ही समर्पित हैं। उनका व्यक्तिगत पुस्तकालय आर्यसमाज विषयक ग्रन्थों की दृष्टि से अद्वितीय है तथा अनेक स्वदेशी एवं विदेशी विद्वान् उनसे अपने शोध-कार्यों के लिए परामर्श लेते हैं।

मन्त्रानुक्रमणिका

क्रम	मन्त्र	पृष्ठ संख्या
१.	अग्ने व्रतपते	८
२.	तनूपाऽग्नेऽसि	१०
३.	उप त्वाग्ने दिवे दिवे	११
४.	राजन्तमध्वराणां	१३
५.	स नः पितेव सूनवे	१४
६.	तत् सवितुर्वरेण्यं	१५
७.	त्र्यम्बकं यजामहे	१६
८.	इदं विष्णुर्विचक्रमे	१७
९.	विष्णोर्नु कं वीर्याणि	१८
१०.	अग्ने नय सुपथा राये	१९
११.	विष्णोः कर्माणि पश्यत	२१
१२.	तद्विष्णोः परमं पदं	२३
१३.	उदु त्यं जातवेदसं	२४
१४.	चित्रं देवानामुदगादनीकं	२५
१५.	यस्मान्न जातः	२६
१६.	देव सवितः प्रसुव यज्ञं	२७
१७.	आयुर्यज्ञेन कल्पतां	२८
१८.	हंसः शुचिषद्	२९
१९.	निषसाद धृतव्रतो	३०
२०.	योगेयोगे तवस्तरं	३१
२१.	अन्नपते अन्नस्य	३२
२२.	उदुत्तमं वरुण पाश	३३
२३.	अश्वत्थे वो निषदनं	३४
२४.	मा मा हिंसी	३५
२५.	अग्निः प्रियेषु	३६
२६.	हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे	३७
२७.	मधु वाताऽऋतायते	३८
२८.	मधु नक्तमुतोषसो	३९
२९.	मधुमान्नो वनस्पति	४०
३०.	अग्निर्देवता वातो देवता	४१
३१.	संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने	४२

क्रम	मन्त्र	पृष्ठ संख्या
३२.	नमः शम्भवाय च	४३
३३.	विश्वतश्चक्षुरुत	४४
३४.	यो नः पिता जनिता.	४५
३५.	न तं विदाथ	४६
३६.	चत्वारि श्रृंगा	४७
३७.	पयः पृथिव्यां	४८
३८.	रुचं नो धेहि	४९
३९.	तेजोऽसि तेजो मयि धेहि	५०
४०.	पुनन्तु मा देवजनाः	५१
४१.	दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्	५२
४२.	यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च	५३
४३.	त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं	५४
४४.	पावका नः सरस्वती	५५
४५.	चोदयित्री सूनृतानां	५६
४६.	महोऽअर्णः सरस्वती	५७
४७.	इमं मे वरुण श्रुधी	५८
४८.	हिरण्यपाणिमूतये	५९
४९.	आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो	६०
५०.	यः प्राणतो निमिषतो	६४
५१.	प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो	६५
५२.	यस्येमे हिमवन्तो महित्वा	६६
५३.	यऽआत्मदा बलदा	६७
५४.	आ नो भद्राः क्रतवो	६९
५५.	देवानां भद्रा सुमति	७०
५६.	तमीशानं जगत	७१
५७.	स्वस्ति नऽइन्द्रो	७२
५८.	भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम	७३
५९.	यथेमां वाचं कल्याणी	७४
६०.	विश्वानि देव	७५
६१.	विभक्तारं हवामहे	७७
६२.	सहस्रशीर्षा पुरुषः	७८
६३.	तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः	७९
६४.	ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्	८०
६५.	चन्द्रमा मनसो जात	८१
६६.	वेदाहमेतं पुरुषं	८२

क्रम	मन्त्र	पृष्ठ संख्या
६७.	प्रजापतिश्चरति गर्भे	८३
६८.	यो देवेभ्यऽआतपति	८४
६९.	तदेवाग्निस्तदादित्य	८५
७०.	सर्वे निमेषा जज्ञिरे	८६
७१.	न तस्य प्रतिमा ऽ अस्ति	८७
७२.	येन द्यौरुग्रा	८८
७३.	वेनस्तत्पश्यन्	८९
७४.	प्र तद्वोचेदमृतं	९०
७५.	स नो बंधुर्जनिता	९१
७६.	यां मेधां देवगणाः	९३
७७.	मेधां मे वरुणो ददातु	९४
७८.	यज्जाग्रतो दूरमुदैति	९५
७९.	येन कर्माण्यपसो	९६
८०.	यत्प्रज्ञानमुत चेतो	९७
८१.	येनेदं भूतं	९८
८२.	यस्मिन्नृचः साम	९९
८३.	सुषारथिरश्वानिव	१००
८४.	प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे	१०१
८५.	पूषन्तव व्रते	१०२
८६.	यन्मे छिद्रं चक्षुषो	१०३
८७.	इन्द्रो विश्वस्य राजति	१०४
८८.	शन्नो मित्रः शं वरुणः	१०५
८९.	शन्नो देवीरभिष्टयः	१०६
९०.	द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं	१०७
९१.	दृते दृंह मा	१०९
९२.	यतो यतः समीहसे	११०
९३.	ईशा वास्यमिदं सर्वं	१११
९४.	कुर्वन्नेवेह कर्माणि	११३
९५.	असुर्य्या नाम ते लोका	११५
९६.	तदेजति तन्नैजति	११७
९७.	यस्तु सर्वाणि भूतानि	११९
९८.	यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि	१२०
९९.	स पर्यगात्	१२१
१००.	वायुरनिलममृत	१२२

ओ३म्

[१]

अग्ने॑ व्रतपते व्र॒तं च॑रिष्यामि तच्छ॑केयं॒ तन्मे॑ राध्यताम्।
इ॒दम॒हमनृ॑तात् स॒त्यमुपै॑मि।। —यजुः० १/५

ऋषि–परमेष्ठी प्रजापति, देवता–विष्णु

मनुष्य–जीवन को ऊँचा उठाने में व्रतों का आचरण एक प्रमुख साधन माना गया है। सामान्यतया लोग एकादशी, पूर्णिमा आदि तिथियों को उपवास रखना तथा जन्माष्टमी एवं शिवरात्रि आदि पर्वों पर भोजन न करने को ही व्रताचरण समझ लेते हैं। किन्तु वेदों में व्रत–पालन की कल्पना सर्वथा भिन्न प्रकार से की गई है। यहाँ व्रत–पालन में अग्नि–परमात्मा की सहायता ली गई है और उसे व्रतपति–व्रतों का पालक तथा अन्यों को व्रतपालन में सहायता देनेवाला कहा गया है। जो लोग वेदों में वर्णित अग्नि आदि को भौतिक शक्तियों का ही वाचक या प्रतीक मानते हैं, उनसे यह पूछा जाना चाहिए कि भला सामान्य अग्नि को 'व्रतपति' कहना कहाँ तक उचित है? क्या वह विवेकवान् मनुष्य को उसके व्रतपालन में सहायता दे सकता है? भौतिक अग्नि से पाचन–क्रिया ही सिद्ध की जा सकती है अथवा शीतकाल में ऊष्मा प्राप्त की जाती है।

किन्तु वेद का अध्येता उसी व्रतंपति परमात्मा को साक्षी बनाकर तथा उसे ही सम्बोधित कर कहता है कि हे परमात्मन्! हम आज सत्याचरण का व्रत लेते हैं। सत्य बोलना, सत्य करना तथा सत्य संकल्पों को धारण करना ही वह श्रेष्ठ व्रत है जो वैदिक भक्त और उपासक को इष्ट है। अग्निदेव से हम इस व्रत–पालन में सहायक होने की याचना करते हैं। ईश्वर की सहायता से ही हमें वह शक्ति मिलती है जिसके बल पर सत्य मार्ग पर चलना हमारे लिए सम्भव होता है। ईश्वर–कृपा

से हमारा यह व्रत एवं संकल्प सिद्ध होवे। यह सर्वोपरि व्रत क्या है? मन्त्र के उत्तरार्द्ध में इसका उत्तर हमें मिलता है। अनृत–मिथ्या को त्यागकर सत्य को स्वीकार करना ही आर्यों का सर्वोपरि व्रत है। आर्ष ग्रन्थों में सत्य को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। वेदों में सर्वत्र सत्य की महिमा गाई गई है। उपनिषत्कार स्पष्ट घोषित करते हैं–

सत्यमेव जयते नानृतम्!

सत्य की ही अन्ततः विजय होती है, अनृत की नहीं। पृथिवी को धारण करनेवाले तत्त्वों में अथर्ववेद के द्रष्टा ऋषि ने सत्य को प्रथम स्थान पर रक्खा है। (द्रष्टव्य पृथिवी सूक्तः १२/१) **न हि सत्यात्परो धर्मः** जैसी शतशः सूक्तियाँ वैदिक और परवर्ती साहित्य में प्राप्त होती हैं। स्वामी दयानन्द ने सत्य की इसी महिमा को लक्ष्य में रखकर आर्यसमाज के दस नियमों में से प्रथम पाँच नियमों में इस सत्य को बार-बार उद्धृत किया है। वैदिक व्रताचरण की यही महिमा और गरिमा है कि वह सत्य को धारण करने और अनृत को त्यागने का ही संकल्प लेता है।

■

[२]

तनूपाऽअग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेऽस्यायुर्मे देहि। वर्चोदाऽअग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनं तन्मऽआपृण।। —यजुः० ३/१७

ऋषि–अवत्सारः, देवता–अग्नि

मनुष्य अपूर्ण है जब कि परमात्मा परिपूर्ण, सर्वगुणों एवं सर्वशक्तियों से सम्पन्न है। इस ईश्वर ने हमें स्वकर्त्तव्य–पालन के लिए यह सुन्दर देह प्रदान की है, किन्तु देह का पालन करनेवाला वह परमेश ही है। शरीर को स्वस्थ, बलवान् तथा सामर्थ्ययुक्त बनाने की शिक्षा हमें परमात्मा से ही मिलती है, अतः हम उस अग्नि–तेजस्वी परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हे अग्रगन्ता परमात्मन्, आप हमारे शरीरों की रक्षा कीजिए। उसी ने हमें शरीर में रहने की आयु प्रदान की है, अतः हम उसके द्वारा प्रदत्त इस आयु को पूर्णावस्था तक ले–जाकर भोगें। शास्त्रों में मानव–जीवन की सीमा सौ वर्षों तक बताई गई है। **शतायुर्वै पुरुषः, जीवेम शरदः शतम्** आदि उक्तियाँ इस कथन की साक्षी हैं। अतः हम परमात्मा से प्रार्थना करें कि आप हमें पूर्णायु प्रदान करें। उस परमात्मा से ही हमें वर्चस्व–तेजस्विता मिली है, अतः तेजरूप वर्चस् की प्राप्ति के लिए परम तेजस्वी, परम वर्चस्वी ईश्वर से प्रार्थना करना सर्वथा उचित है। ऋषि दयानन्द ने वर्चस् का अर्थ विज्ञान और पूर्ण विद्या किया है। इस प्रकार विज्ञान तथा विद्या का देनेवाला भी परमात्मा ही है। सत्य तो यह है कि मानव अपूर्ण है। उसमें अनेक प्रकार की शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक अपूर्णता–न्यूनता है। इस न्यूनता को पूरा करने के लिए उस परमेश–परमात्मा से ही हम विनय करते हैं। वही इसे पूरा करेगा।

■

[३]

उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्।
नमो॒ भर॑न्त॒ऽएम॑सि॥ —यजुः० ३/२२

ऋषि–वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः, देवता–अग्नि

अग्नि–परमात्मा की उपासना करने का समय कौन–सा है? मनुष्य अपने जीवन में लौकिक कर्त्तव्यों के पालन में ही दिन–रात व्यस्त रहता है। अपने–अपने वर्ण और आश्रम की व्यवस्था के अनुसार उसे जीविकोपार्जन के अतिरिक्त अन्य प्रकार के कार्य भी करने पड़ते हैं। किन्तु परमात्मा ने प्रातःकाल और सायंकाल का समय उपासना के लिए स्वाभाविक रूप से निश्चित कर दिया है। अन्य कार्यों से चाहे हम छुट्टी मना लें, किन्तु प्रभु की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, तथा स्मरण में कभी अवकाश का दिन नहीं होता । ज्योंही हम शैया–त्याग करें, हम ईश्वर को स्मरण करें। नैत्यिक शौचादि से निवृत्त होकर पुनः हमें संध्योपासना में प्रवृत्त होना है। इसी प्रकार दिन–भर की हलचल तथा संघर्ष–भरी प्रवृत्तियों से मुक्ति पाकर सायंकाल को हम पुनः परमात्मा के समक्ष अपनी आत्मिक उन्नति का लेखा–जोखा प्रस्तुत करते हैं।

वेद ने हमारी उपासना के कार्यक्रम का संकेत देते हुए इस मन्त्र में आराधक से कहलाया है–हे अग्ने! हम प्रतिदिन, रात और दिन के संध्याकाल में, अपनी बुद्धि और कर्म से आपके प्रति नमस्कार की भेंट लाते हुए आपके समीप आ रहे हैं।

भक्त भगवान् को भेंट–रूप में क्या अर्पित करे? संसार में उसे जो कुछ मिला है, वह तो परमात्मा का ही दिया है। प्रभु द्वारा बनाई हुई धरती से अन्न, फल और शाकादि उपजाकर वह अपनी उदर–पूर्ति करता है। कलकल प्रवाहिनी स्रोतस्विनियों, धवल जलधारा को गिराते निर्झरों, पृथिवी के वक्ष को फोड़कर निकले स्रोतों तथा कूप, वापी, तड़ाग आदि

स्वनिर्मित जलाशयों से वह पीने के लिए जो जल प्राप्त करता है, वह भी ईश्वर-दत्त ही है। इसी प्रकार तन ढँकने को वस्त्र भी कपास आदि वनस्पतियों से ही मिलते हैं। परमात्मा की शक्ति से प्रवाहित होनेवाला वायु मनुष्य की प्राणशक्ति का संचालन करता है। जब सब-कुछ उसी का दिया है तो भक्त अपने भगवान् को क्या अर्पित करे? हिन्दी के नाट्यकार और आर्यसमाज के प्रति समर्पित पं० नारायणप्रसाद बेताब ने इसी भाव की व्यंजना अपने प्रसिद्ध गीत में की है—

अजब हैरान हूँ भगवन्! तुम्हें क्योंकर रिझाऊँ मैं?
नहीं वस्तु कोई ऐसी जिसे सेवा में लाऊँ मैं?

अन्ततः आराधक अपने प्रियतम प्रभु के समक्ष नमस्कार-रूपी भेंट ही अर्पित करता है। परन्तु यह नमन भी बुद्धि एवं कर्म से संयुक्त होना चाहिए। मध्यकालीन भक्ति तो बुद्धि को पूर्णतया बहिष्कृत करती है। वह कर्म को भी महत्त्व नहीं देती। उस युग की भक्ति ने अंधविश्वास तथा वैचारिक जड़ता का पोषण किया, साथ ही लोगों को भगवान्-भरोसे रहने तथा अकर्मण्य होकर प्रारब्धवादी बनाया। वैदिक भक्ति बुद्धि और कर्म को साथ लेकर चलती है।

■

[४]

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्द्धमानुथं स्वे दमे॥ —यजुः० ३/२३

ऋषि–वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः, देवता–अग्नि

परमात्मा ने मनुष्य के हितार्थ तथा जगत्–कल्याणार्थ यज्ञों का विधान किया है। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध–पर्यन्त यज्ञों के करने–कराने से सांसारिक सुख की वृद्धि होती है तथा मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठकर लोकहित तथा विश्व–कल्याण की भावना से अनुप्राणित होता है। मन्त्र में परमात्मा को अध्वरों का प्रकाशक कहा गया है। निरुक्त में हिंसारहित कृत्य को 'अध्वर' की संज्ञा दी गई है। शतपथब्राह्मण में प्राणों को अध्वर कहा गया है—**प्राणोऽध्वरः**—(शत० ७/३/१/५) अग्नि–परमात्मा जहाँ यज्ञों को प्रकाशित करता है वहाँ वह जीवों के प्राणों का धारक और संचालक भी है। वह ईश्वरीय नियम ऋत का रक्षक और पोषक है। वह स्वयं अपने सत्य नियमों से परिचालित होता है तथा संसार को भी इसी सत्य विधान से चलाता है। वह सर्वप्रकाशक तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप है। उपनिषद् ने स्पष्ट कहा है कि उस ईश्वरीय प्रकाश के बिना न तो सूर्य और न चन्द्रमा ही प्रकाशित होते हैं। तारागण, विद्युत् तथा अग्नि में भी परमात्मा का ही प्रकाश है। वस्तुतः संसार के सभी ज्योतिष्मान् पदार्थ ईश्वरीय ज्योति से ही अपने–अपने प्रकाश को धारण करते हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

यह ज्योतिमान् परमात्मा अपने परमानन्द–रूप पद को स्वयं प्राप्त है। वह स्वयं तो प्रवृद्ध है ही, अपने भक्तों को भी संसार में भौतिक और आध्यात्मिक ऐश्वर्यों से परिपूर्ण करता है।

उपासकों को योग्य है कि वे उस दिव्य प्रकाशरूप, अग्नि संज्ञा से अभिहित परमात्मा को प्राप्त करें जिसने संसार में मानव तथा प्राणिमात्र के हित के लिए देवपूजन, संगतिकरण तथा दान की भावना से युक्त यज्ञ का विधान किया। वही

दिव्य शक्तिवाला परमात्मा पृथिवी आदि पदार्थों का धारण, पोषण तथा रक्षण करता है। उसने ही ऋत (ईश्वरीय नियम) को धारण किया है। उस स्वयं-प्रकाशमान परमात्मा का उपासकगण अपने हृदय-मन्दिर में चिन्तन एवं निदिध्यासन करें, यही उनके लिए परम श्रेय, परम काम्य तथा परम इष्ट है। ■

[५]

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये।। —यजु:० ३/२४

ऋषि-वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः, देवता-अग्नि

परमात्मा और जीवात्मा का परस्पर सम्बन्ध क्या और कैसा है? इस विषय में शास्त्रों का कथन है कि परमात्मा पिता है, जीव पुत्र है; परमात्मा स्वामी है, जीव सेवक है; ईश्वर राजा है, जीव उसकी प्रजाएँ हैं। वह परमात्मा गुरु है और जीव उसके शिष्य हैं। इन विविध सम्बन्धों को पुष्ट करनेवाले अनेक मन्त्र वेदों में मिलते हैं। प्रस्तुत मन्त्र जीवेश्वर के पिता-पुत्र-सम्बन्ध का विधायक है। यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि परमात्मा ने जीव को उत्पन्न नहीं किया, अपितु वह उसे शरीर प्रदान करनेवाला पिता है। जैसे पिता अपनी सन्तान को अच्छे-अच्छे गुण तथा ज्ञान देता है, उसी प्रकार यह परम पिता प्रभु भी हम पुत्रों को श्रेष्ठ गुण, कर्म तथा विज्ञानों को प्राप्त कराए। वह हमें कल्याण-मार्ग में चलने के लिए नियुक्त करे। वेदों में अनेकत्र स्वस्ति-कल्याण-कामनावाले मन्त्र आते हैं। यह कल्याण-कामना केवल भौतिक ऐश्वर्य, सुख तथा वैभव की प्राप्ति की ही नहीं है, किन्तु इस स्वस्ति-कामना में मनुष्य के सार्वत्रिक हित एवं मंगल की इच्छा निहित है, अतः उस परमपिता से हम यह याचना करते हैं कि हे परमात्मन्, जिस प्रकार दयालु प्रेमल पिता अपने पुत्रों की कल्याण-कामना करते हुए उनके लिए सर्वविध सुखों और मंगलों का संभार जुटाते हैं, उसी प्रकार आप अपनी जीव-सृष्टि के लिए सर्वविध कल्याण और मंगलों की सृष्टि करें। ■

[६]

तत् स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि।
धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त्॥ —यजुः० ३/३५

ऋषि–विश्वामित्र, देवता–सविता

गायत्री मन्त्र के नाम से प्रसिद्ध यह मन्त्र यजुर्वेद में अन्यत्र (२२/८, ३०/२, ३५/३) भी आया है। मन्त्र का देवता सविता है तथा द्रष्टा विश्वामित्र ऋषि है। ऋषि दयानन्द ने स्वकृत वेदभाष्य में इसका अर्थ करते हुए लिखा है—मनुष्यों को चाहिए कि वे सकल जगत् के उत्पादक, सम्पूर्ण दोषों के विनाशकर्त्ता परमेश्वर की उपासना नित्य किया करें। यह परमेश–उपासना किस प्रयोजन से की जाती है? उपासना का प्रयोजन तो यही है कि इसके करने से परमात्मा हमें दुष्ट गुण, कर्म और स्वभाव से पृथक् कर सब प्रकार के शुभ गुण, कर्म और स्वभाव प्राप्त कराएगा। यही प्रार्थना हम संसार के उत्पादक, सृष्टि–रचयिता, सवितादेव से करें कि हे सर्व–सामर्थ्ययुक्त भगवन्! हम आपके उस वरणीय भर्ग अर्थात् तेज का ध्यान करते हैं और अपेक्षा करते हैं कि आपके इस ध्यान से आप हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग तथा सत् कर्मों की ओर निरन्तर प्रेरित करते रहेंगे। प्रार्थना का मुख्य सिद्धान्त यही है कि जैसी हम प्रार्थना करें, तथैव आचरण भी करेंगे। प्रार्थना, उपासना तथा स्तुति के वास्तविक अर्थों को स्पष्ट करते हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि वास्तविक गुण–कथन ही स्तुति है, स्वयं का पुरुषार्थ करते हुए परमात्मा से सहायता की याचना ही प्रार्थना है तथा सच्चिदानन्दादि लक्षणों से परिपूर्ण परमेश्वर के निकट स्वात्मा को ले–जाना ही उपासना है। अतः गायत्री मन्त्र से प्रार्थना करते हुए यदि हम अपने चिन्तन में परमात्मा के तेजस्वी स्वरूप को निरन्तर लाते रहें तो उससे हमारी बुद्धियों का परिष्कार तो होगा ही, सत्कर्मों में हमारी प्रवृत्ति भी होगी। ■

[७]

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्।। –यजुः० ३/६०

ऋषि–वसिष्ठ, देवता–रुद्र

सामान्य जन इस मन्त्र को महामृत्युंजय मन्त्र कहते हैं और इसके जप का फल रोग–निवारण, शत्रु–नाश अथवा दीर्घायु प्राप्त करना मानते हैं। तथ्य तो यह है कि शरीर–क्षयरूपी मृत्यु से बचना तो मनुष्य के लिए असम्भव ही है, क्योंकि **'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च'** के गीतोक्त सिद्धान्त के अनुसार जिसने शरीर धारण कर जन्म लिया है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है, और जो जीव शरीर से पृथक् हो गया उसका नवीन शरीर धारण करना भी अनिवार्य है। तथापि प्रभु के प्रति समर्पण–भाव से भक्ति करके जीव सांसारिक बंधनों से मुक्त हो मोक्षलाभ तो कर ही सकता है। इसी मोक्ष–प्राप्ति के लिए जीव परमात्मा से प्रार्थना करते हैं–हे रुद्र नामधारी परमात्मन्! आप हमारे शरीर, आत्मा और समाज की कीर्ति–सदृश सुगंध को बढ़ानेवाले तथा हमें सब प्रकार की पुष्टि एवं सामर्थ्य प्रदान करानेवाले हैं। आप ऐसी कृपा करें कि जिस प्रकार पका हुआ खरबूजा अपनी लता से पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार हम जीव भी आपकी उपासना के द्वारा मृत्युरूपी लता से तो पृथक् हो जावें, किन्तु मोक्षरूपी अमृतत्व से हम कभी पृथक् न हों। आचार्य यास्क तथा ऋषि दयानन्द दोनों ने ही 'त्र्यम्बक' का अर्थ 'रुद्र परमात्मा' किया है। पौराणिक मन्तव्यानुसार त्रिनेत्रधारी शिव ही त्र्यम्बक हैं, किन्तु इस अर्थ की पुष्टि निरुक्त से नहीं होती।

■

[८]

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे स्वाहा॥ —यजुः० ५/१५

ऋषि-मेधातिथि, देवता-विष्णु

मेधातिथि ऋषि द्वारा दृष्ट इस मन्त्र का देवता विष्णु है। ऋषि दयानन्द ने विष्णु की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है-'**सो वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः**' अर्थात् जो चराचर जगत् में विद्यमान, व्यापक परमात्मा है वही विष्णु कहलाता है। उस सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठाता परमात्मा की महिमा का गायन करते हुए मन्त्र कहता है कि उस परमात्मा ने समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड को त्रिविध प्रकार से धारण किया है तथा वह उसमें विद्यमान है। प्रथम प्रकार के लोक सूर्यादि हैं जो प्रकाशमान् हैं, दूसरे पृथिव्यादि प्रकाशरहित लोक हैं और तीसरा अदृश्य परमाणुरूप जगत् है जो चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। वह परमात्मा इस प्रकार चराचर जगत् का धारक बना हुआ सर्वत्र गति करता है। यद्यपि परमात्मा विश्व-ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्यापक और पूर्ण तो है, किन्तु उसकी इयत्ता वहीं तक नहीं है। जैसा कि यजुर्वेद में ही (३१।३) कहा गया है '**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**'—यह चराचर जगत् तो उस परमपुरुष का एक पाद-स्थानीय ही है, उसके अवशिष्ट तीन पाद तो उसके अमृतमय स्वरूप में ही निहित हैं। इसी अभिप्राय को प्रस्तुत मन्त्र का अवशिष्ट भाग बताता है। जिस प्रकार धूलिधूसरित वस्तु दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार विष्णु परमात्मा के तीन पाद भी रजकणों में छिपी वस्तु की भाँति अस्पष्ट एवं अविज्ञात ही हैं। पौराणिक काल में इसी मन्त्र के तत्त्वार्थ को न समझकर विष्णु के वामन अवतार और तीन डगों में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नाप लेने की कल्पना हुई।

■

[९]

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांꣳसि।
योऽअस्कभायदुत्तरꣳ सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः।।

—यजुः० ५/१८

ऋषि-*औतप्यो दीर्घतमा*, देवता-*विष्णु*

आओ, आप और हम मिलकर उस सर्वत्र व्यापक, जगत्-स्रष्टा विष्णु के पुरुषार्थ का गान करें! किन्तु क्या मानवी जिह्वा उस परमपिता के परमोत्कृष्ट बल का वर्णन करने में समर्थ है? तथापि हानि ही क्या है! हम यथासम्भव परमेश का गुण-कीर्तन कर अपने जीवन को सफल बनाएँ। वेद में अन्यत्र कहा है—**आत्वेता निषीदते इन्द्रमभिप्रगायत।** (ऋ० १/५/१) 'हे भक्तजनो! आओ, बैठो। उस परम प्रभु इन्द्र का गुणगान करो।' प्रस्तुत मन्त्र का द्रष्टा औतप्य दीर्घतमा ऋषि भी कहता है—मैं उस व्यापक विष्णु के पराक्रम को कहता हूँ जिसने पृथिवी, द्यौ और अन्तरिक्षादि लोकों की रचना की है। उस महान् शक्तिशाली विष्णु का यह पराक्रम कितना प्रबल है कि जिसके वशवर्ती होकर सभी लोक-लोकान्तर उसी सर्वाधार का आधार लेकर एक-दूसरे के आकर्षण में स्वकक्षा में स्थिर हैं। उस विष्णु का भक्तजन विविध प्रकार से, भूरिशः गायन करते हैं, गुण-कथन करते हैं। उसी ने त्रिविध लोकों को स्व-अनुशासन से दृढ़तापूर्वक धारण कर रक्खा है। ऋषि दयानन्द के अनुसार यह विष्णु परमात्मा पृथिवी, सूर्य और त्रसरेणु—इस त्रिविध भेद से जगत् की रचना करता है।

■

[१०]

अग्ने नयं सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम॥

—यजुः० ५/३६, ७/४३, ४०/१६

ऋषि-आगस्त्य, देवता-अग्नि

हे अग्नि-परमात्मन्! आप सुपथ पर ले-जाने के लिए हमारे मार्गदर्शक बनें। आप हमारे सम्पूर्ण कर्मों को जानते हैं। आप ऐसी कृपा करें जिससे हम कुटिलतारूप पाप-कर्मों से दूर रहें। इसी प्रयोजन हेतु हम विनम्र भाव से आपकी बार-बार स्तुति करते हैं तथा पुनः-पुनः नमन करते हैं।

संसार में अनेक वस्तुएँ सुलभ हैं, किन्तु अच्छा माार्गदर्शक पा लेना बड़े सौभाग्य की बात है। जो स्वयं को लोगों का मार्गदर्शन कराने की बात करते हैं वे भी पूर्णतया निर्दोष ही हों, ऐसी बात नहीं है। ऐसे मार्गदर्शक गुरुओं में यह धारणा पैदा हो जाती है कि वे जिस मार्ग पर चलने-चलाने की बात कहते हैं, संसारी जनों के लिए वही सर्वोपरि हित का मार्ग है; यदि लोगों ने उनका अनुसरण नहीं किया तो उनका विनाश सुनिश्चित है। ऐसे अहंकारी गुरु और मार्गदर्शक इस तथ्य को भुला देते हैं कि मनुष्य का सच्चा गुरु और पथदर्शक तो परमात्मा ही है। प्रस्तुत मन्त्र में सुपथ पर ले-जानेवाले उस अशेष शुभचिन्तक परमात्मा को 'अग्नि' नाम से सम्बोधित किया गया है। अग्नि का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी अग्रगन्ता—आगे चलनेवाला तथा दूसरों को अग्रगामी बनानेवाला—अत्यन्त तेजस्वी परमात्मा ही है।

परमात्मा को अपना नेता और अग्रगन्ता बनाना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि वह हमारे सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों को जानता है। अन्तर्यामी और सर्वज्ञ होने के कारण उससे मनुष्यों के क्रियाकलाप अविदित नहीं हैं। जो अध्यापक अपने छात्रों की बौद्धिक स्थिति और क्षमता को भली-भाँति जानता है,

वही उन्हें परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त कर उत्तीर्ण होने का मार्ग बता सकता है। इसी प्रकार हम जीवों के अच्छे-बुरे कर्मों, हमारी क्षमता तथा ऊर्जा का सम्यक् ज्ञान रखनेवाला परमात्मा ही हमारा मार्गदर्शक बने, यही हमारी कामना है। हमने अब तक जो कुटिलतायुक्त पापकर्म किए हैं, उनसे पृथक् करनेवाला भी अग्नि ही है। जिस प्रकार समस्त कूड़ा-कर्कट और अपवित्र वस्तुओं को जलाकर नष्ट करने की शक्ति अग्नि में है, उसी प्रकार परमपिता भी अपने भक्तजनों के पापरूप दुष्कर्मों से उन्हें पृथक् करता है और सन्मार्गगामी बनाता है। इसलिए मनुष्य का परमहित इसी बात में है कि वह उस परमेश प्रभु को ही अपना पथ-प्रदर्शक बनाए। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है कि जो सत्य-भाव से परमात्मा की उपासना करते हैं, यथासामर्थ्य उसकी आज्ञा का पालन करते हैं तथा परमात्मा के उपदेशानुसार ही अपने कर्त्तव्यों का निर्धारण करते हैं, उन्हें वह दयालु परमात्मा पापाचरण के मार्ग से पृथक् कर धर्ममार्ग पर चलाता है, उन्हें विज्ञान प्रदान कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करने में समर्थ बनाता है। इसलिए सब को चाहिए कि उस एक अद्वितीय ईश्वर को छोड़कर अन्य किसी की उपासना कदापि न करें।

■

[११]

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥४॥ —यजुः० ६/४, १३/३३

ऋषि–मेधातिथि, देवता–*विष्णु*

मनुष्य की ही भाँति परमात्मा भी कर्मशील है, किन्तु दोनों के कर्मों में अन्तर है। सांसारिक प्राणी इस लोक में जन्म लेकर जहाँ आहार, निद्रा, सन्तानोत्पादन, सन्तान–पालन तथा अन्य प्रकार के साधारण लौकिक कर्म करता है, वहाँ परमात्मा के द्वारा सृष्टि की रचना, स्थिति, प्रलय आदि दिव्य एवं अलौकिक कर्म किए जाते हैं। मनुष्य को ज्ञान प्राप्त करने, बल उपार्जित करने तथा नाना क्रियाओं में कौशल प्राप्त करने में जहाँ अभ्यास करना पड़ता है, वहाँ परमात्मा के ज्ञान, बल और कर्म स्वाभाविक, स्वतःस्फूर्त एवं अनायास होते हैं–

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

मनुष्य में अनुकरण की प्रवृत्ति सहज होती है। वह अन्य को देखकर ही स्वयं उस प्रकार के कर्म करने में प्रवृत्त होता है। किन्तु अल्पज्ञ एवं अज्ञानी जीव के लिए क्या यह अच्छा नहीं है कि वह किसी सांसारिक प्राणी के कार्यों को न देखकर, संसार में सर्वत्र व्याप्त एवं सर्वगुणयुक्त परमपिता के दिव्य कर्मों को देखकर उनका अनुकरण करने की चेष्टा करे? यह तो ठीक है कि वह परमात्मा के संसार की रचना, पालन, संहार तथा प्राणियों को उनके कर्मानुसार फल प्रदान करने जैसे कर्म नहीं कर सकता, तथापि वह परमात्मा के न्याय को देखकर स्वयं न्यायोचित कर्म कर सकता है, परमात्मा के दयायुक्त कर्मों को देखकर स्वयं भी दीन, दुर्बल एवं दुखियों के प्रति दया का व्यवहार कर सकता है। परमात्मा को सत्यस्वरूप, सत्याचरणयुक्त एवं सत्य के परम आदर्श के रूप में मानकर स्वयं भी सत्यप्रतिज्ञ हो सकता है। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर वेदमन्त्र में कहा गया है

कि हे जीव, तू व्यापक परमात्मा के दिव्य कर्मों को भली-भाँति देख। इन्हीं दैवी कर्मों से परमात्मा ने मनुष्य के लिए धारण करने योग्य व्रतों को सम्यक् प्रकार से दर्शाया है। ईश्वरीय कर्म ही मनुष्य को स्वकर्त्तव्य-पालन में प्रेरित करते हैं तथा दिव्य व्रतों को धारण कर तदनुकूल आचरण करने की शिक्षा देते हैं। वेदों में व्रत की महिमा सर्वत्र गाई गई है। यजुर्वेद में अग्नि को व्रतपति कहा है और उसे साक्षी बनाकर सत्यरूपी व्रत का आचरण करने के लिए मनुष्य को कृतप्रतिज्ञ होने के लिए कहा गया है–

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, आदि।

अनृतत्याग और सत्यग्रहण–यही सर्वोच्च आर्यव्रत है। यजुर्वेद के ही एक अन्य मन्त्र में व्रत के द्वारा दीक्षा की प्राप्ति, दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य तक पहुँचने का क्रम दर्शाया गया है। ऋग्वेद में जगन्नियन्ता वरुण परमात्मा के दिव्य व्रतों का अनेकत्र उल्लेख हुआ है। अतः परमात्मा के कर्मों को देखकर मनुष्य का व्रती होना स्वाभाविक ही है।

आत्मा का निकटतम सखा तो इन्द्र परमात्मा ही है। लोक में हम देखते हैं कि मित्र अपने मित्र के आचरण, कर्म और व्यवहार का ही प्रायः अनुकरण करता है। यदि जीवात्मा भी अपने परम सखा, स्नेही मित्र और शुभेच्छु परमात्मा का सखा बनकर उनके गुण, कर्म और स्वभाव को अपना आदर्श बनाए तो इससे अधिक अच्छा और क्या हो सकता है! वैदिक मान्यता में परमात्मा और जीव का पारस्परिक सम्बन्ध पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा तथा सखा-सखा का ही है। एतद्-विषयक विभिन्न मन्त्र वेद-संहिताओं में सर्वत्र देखे जाते हैं।

■

[१२]

तद्विष्णोः परमं पदꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्॥ —यजुः० ६/५

ऋषि–मेधातिथि, देवता–विष्णु

ऋषि दयानन्द ने उक्त मन्त्र का संस्कृत–भावार्थ करते हुए लिखा है–"**निर्धूतमला विद्वांसः स्वविद्याप्रकाशने यथेश्वरगुणान् दृष्ट्वा विशुद्धाचरणशीला जायन्ते तथाऽस्माभिरपि भवितव्यम्॥** अर्थात् पापों से मुक्त विद्वान् लोग अपनी विद्या के प्रकाश से परमात्मा के गुणों को जानकर विशुद्धाचरणवाले होते हैं, तथैव हमें भी होना चाहिए। परमात्मा की प्राप्ति ही मनुष्य का चरम लक्ष्य है। विष्णु का यह परमपद योगसाधना की भिन्न–भिन्न सीढ़ियों को पार कर परमोत्कृष्ट समाधि–स्थिति को प्राप्त करने से मिलता है।"

ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में विष्णु शब्द को परमात्मावाचक सिद्ध करते हुए लिखा है–"**वेवेष्टि व्याप्नोति चराऽचरं जगत् स विष्णुः।**" अर्थात् चर और अचर–रूप जगत् में व्यापक होने से परमात्मा का नाम विष्णु है। परमात्मा के इस पद को प्राप्त करने के बाद मनुष्य के लिए और कुछ इतिकर्त्तव्य शेष नहीं रहता। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश की विद्यमानता में मनुष्य के नेत्रों को सब–कुछ भासता है, दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार परमात्मपद को प्राप्त कर वह आध्यात्मिक अनुभवों से युक्त हो जाता है। इस दिव्य और अलौकिक स्थिति को पाकर पुनः उसे कुछ अन्य प्राप्त करना इष्ट नहीं होता। यही उसका सबसे बड़ा लाभ है, यही मनुष्य का चरम पुरुषार्थ है। किन्तु परमात्मा का यह दिव्य दर्शन वेदविद् विद्वानों को ही होता है। सूरि (मनीषी) गण ही उसे देखने में समर्थ होते हैं।

■

[१३]

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यंᳪ स्वाहा॥ —यजुः० ७/४१, ३३/३१

ऋषि-प्रस्कण्व, देवता-सूर्य

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र को संध्योपासना की उपस्थान शीर्षक क्रिया में विनियुक्त किया है, अतः यहाँ मन्त्र का आध्यात्मिक उपासनापरक अर्थ करना ही अभीष्ट है। संध्योपासना में स्वयं को परमात्मा के समीप ले जाना, उसका सतत चिन्तन तथा गुणकीर्तन करना उपस्थान का प्रयोजन है। मन्त्र में परमात्मा को जातवेदस् कहा है। ऋग्वेदादि चारों वेदों का उत्पन्नकर्त्ता, सर्वज्ञानप्रद होने से परमात्मा जातवेदा है। वह परमात्मा प्रकाशमय तथा दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण देव भी है। ऐसे महान् तेजस्वी तथा परम ज्ञानवान् परमेश्वर को प्रकाशित करनेवाले वेद, संसार में दिखलाई देनेवाले विभिन्न पदार्थ तथा अन्य ईश्वर-रचित वस्तुएँ ही हैं। जिस प्रकार सांसारिक राजा के आगमन के सूचक उसके राज्य के ध्वज होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड के विशाल साम्राज्य के अधिष्ठाता परमपिता के अस्तित्व की सूचना देनेवाली प्राकृतिक रचना ही उसकी पताकाएँ हैं।

मन्त्र में परमात्मा को सूर्य कहा गया है। जिस प्रकार सूर्य को देखने के लिए किसी अन्य दीपक आदि की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार परमात्मा के दर्शन के लिए किसी अवतार या पैगम्बर को मध्यस्थ नहीं बनाना पड़ता। वह तो सभी के लिए समान रूप से द्रष्टव्य है। प्रस्तुत मन्त्र का श्री महाराज ने इस प्रकार अर्थ किया है—"जिससे ऋग्वेदादि चार वेद प्रसिद्ध हुए हैं, वह परमदेव ही जीव और जगत् का प्रकाशक होने से सूर्य है। यह परमात्मा ही हमारा उपास्य है। वेद की श्रुतियाँ तथा परमात्मा के रचनादि नियम उसको प्रत्यक्ष करनेवाले केतु-तुल्य हैं।" ■

[१४]

चि॒त्रं दे॒वाना॒मुद॑गा॒दनी॑कं॒ चक्षु॑र्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्या॒ग्नेः।
आप्रा॒ द्यावा॑पृथि॒वीऽअ॒न्तरि॑क्ष॒ꣳ सूर्य॑ऽआ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च॒ स्वाहा॑॥
—यजुः० ७/४२

ऋषि–कुत्स, देवता–सूर्य

संध्योपासना के उपस्थान प्रकरण में इस मन्त्र को महाराज ने तीसरे स्थान पर रखा है। मन्त्रगत सूर्य परमात्मा का वाचक है। उसे जड़ तथा चेतन जगत् का नियामक, फलतः आत्मा कहा गया है। जिस प्रकार शरीरगत आत्मा से ही मनुष्य की इन्द्रियों का संचालन होता है तथा वह आत्मा ही शरीर की गति–प्रगति का कारण बनता है, उसी प्रकार समष्टि जगत्—जड़ और चेतन का नियामक होने से ईश्वर ही यहाँ सूर्यपद–वाच्य है। वह परमात्मा ही द्यौ, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष लोकों का धारणकर्त्ता तथा संचालक है। यों तो संसार में सूर्य–चन्द्रादि जड़ देव भी अद्‌भुत, दिव्य तथा विचित्र हैं, किन्तु इन सब देवों का नियन्ता परमात्मा तो सर्वाधिक चित्र–विचित्र–अद्‌भुत है। वह हम जीवों के आत्मा में प्रकाशित है। यह प्रचण्ड शक्तिशाली सूर्यपद–वाच्य परमात्मा ही मित्र, वरुण तथा अग्नि आदि भौतिक पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला चक्षु है। ऋषि दयानन्द ने द्रोहरहित मनुष्य की मित्र संज्ञा, श्रेष्ठ गुण–कर्मयुक्त मनुष्य की वरुण संज्ञा तथा शिल्प–विद्या के हेतु विद्युत् को अग्नि कहा है। जिस प्रकार सामान्य मनुष्य अपने नेत्रों द्वारा सर्व जीव–जगत् को देखता है, उसका साक्षात्कार करता है, उसी प्रकार मित्र, वरुण, अग्नि आदि देवों का नेत्र–स्थानीय स्वयं परमात्मा ही है। उसके इस अद्‌भुत रूप का ध्यान और चिन्तन ही मनुष्यों के त्रिविध तापों का विनाशक है। वेद में वर्णित इस दिव्य परमात्मा का वर्णन और व्याख्यान भी कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं है। कठोपनिषद् में ब्रह्मतत्त्व के वक्ता को आश्चर्य का ही कथन करनेवाला कहा गया है। इसे ही गीता में **'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं'** (२/२९) कहकर वर्णित किया गया है। ■

[१५]

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति यऽआविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥

—यजुः० ८/३६

ऋषि-विवस्वान्, देवता-परमेश्वर

परमात्मा के अद्वितीय होने का प्रतिपादक यह मन्त्र स्पष्ट कहता है कि उस प्रजापति परमेश्वर से बढ़कर उत्तम अन्य कोई नहीं है। इसका एक कारण तो यह है कि उसने सारे विश्व-ब्रह्माण्ड को अपने भीतर समाविष्ट किया हुआ है। परमेश्वर से भिन्न वस्तुएँ जहाँ एकदेशीय, सीमित तथा स्थान-विशेष में ही समाई रहती हैं, वहाँ परमात्मा सर्वव्यापक होने से सर्वत्र विद्यमान तथा सर्वाध्यक्ष भी है। मन्त्र के द्वितीय पाद में आया 'षोडशी' शब्द सोलह कलाओं का वाचक है। वैदिक ग्रन्थों में सोलह कलाओं का वर्णन अनेकत्र मिलता है, यथा—प्रश्नोपनिषद् में इच्छा, प्राण, श्रद्धा, पृथिवी, अग्नि, वायु, आकाश, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, लोक और नाम को १६ कलाएँ कहा गया है। छान्दोग्योपनिषद् के नारद-सनत्कुमार-संवाद में भी इन कलाओं का उल्लेख हुआ है। ये कलाएँ हैं—नाम, वाग्, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, आपः, तेज, आकाश, स्मृति, आशा, प्राण, सत्य। ये सभी कलाएँ परमात्मा में ही विद्यमान हैं और वह सर्वाधिष्ठाता परमेश्वर अपनी अद्वितीय शक्ति से सूर्य, विद्युत् और अग्निरूपी त्रिविध ज्योतियों को अपनी प्रजाओं के हितार्थ प्रकाशित करता है।

ऋषि दयानन्द ने अपने यजुर्वेद-भाष्य में इस मन्त्र का भावार्थ करते हुए लिखा है—"मनुष्यों के लिए उचित है कि वे सर्वत्र व्याप्त, सब लोगों के स्रष्टा, धर्ता, दाता, न्यायकारी, सनातन, सच्चिदानन्द, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा महतो-महीयान् सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को जानें, जिससे अधिक उत्तम पदार्थ अन्य कोई नहीं है। वही हम सब का उपास्य है।" ■

[१६]

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा॥ —यजुः० ९/१, ११/७, ३०/१

ऋषि–इन्द्राबृहस्पति, देवता–सविता

इस मन्त्र का देवता सविता है जो सब जगत् का उत्पादक, मनुष्यों को सत्कर्मों की प्रेरणा देनेवाला तथा विद्वानों का मार्गदर्शक है। उस सवितादेव से हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमारे द्वारा किए गए श्रेष्ठ कर्मों (यज्ञों) को सम्यक् प्रकार से सफल बनाए। यज्ञ–कर्म का कर्त्ता जो यजमान है, उसे ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ने की प्रेरणा भी सविता परमात्मा ही देता है। वस्तुतः परमात्मा ने ही वेदों में यज्ञ–कर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा लोगों को दी है। इसलिए यजमान जब यज्ञ में लगते हैं तो परमात्मा उनकी लोक–हितैषी यज्ञभावना को देखकर उसे विविध ऐश्वर्यों से सम्पन्न करते हैं। मन्त्र में सविता को दिव्य गन्धर्व कहा है। दिव्य गुणों से युक्त, वेदवाणी का पोषक परमात्मा–गन्धर्व है, वह हमारे ज्ञान को पवित्र करे। ज्ञान से ही ज्ञान को पवित्रता प्राप्त होती है। वह परमात्मा वाचस्पति (वेदवाणी का स्वामी) भी है। वाचस्पति की कृपा से ही हम वाग्मी बनते हैं तथा हमारी वाक्शक्ति मधुर, ओजस्वी तथा प्रभविष्णु बनती है।

■

[१७]

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। प्रजापतेः प्रजाऽअभूम स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम॥

—यजुः० ९/२१

ऋषि–वसिष्ठ, देवता–यज्ञ

वेदों में 'यज्ञ' शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह सामान्य अग्निहोत्रादि इतिकर्त्तव्यों के लिए ही नहीं आया है, अपितु इसमें देव–पूजा, विद्वानों का सत्कार, समाज में संगति तथा सामंजस्य की स्थापना, दान की प्रवृत्ति तथा लोकहित जैसे उदात्त भावों का भी समावेश हुआ है। यज्ञ के इन सर्वतोभद्र तथा श्रेष्ठ तत्त्वों को अपने भीतर समाविष्ट करने के अभिप्राय को ध्यान में रखते हुए मन्त्र कहता है—हे मनुष्य, तू अपनी आयु को धर्माचरण तथा ईश्वराज्ञा–पालनरूपी यज्ञ में लगा। तेरे जीवन का आधार प्राण भी धर्म और विद्याभ्यास में ही व्यय होना चाहिए। तेरे नेत्रों और श्रवण की शक्ति भी लोकोपकार में ही लगे। तू अपने नेत्रों से भद्र दृश्यों को देखे तथा कानों से भद्र वचन ही सुने। तेरा पूछना और जिज्ञासा भी शुभ कार्यों में ही नियोजित होता रहे। यहाँ तक कि देवपूजा, संगतिकरण तथा दान की भावना से युक्त यज्ञ–कर्म भी स्वार्थ–भावना को पूर्णतया छोड़कर लोकमंगल के लिए ही किए जाएँ।

प्रजापति परमात्मा संसारी जीवों के हित के लिए ही अपनी प्रजा के पालन में तत्पर रहता है। विद्वान् लोग भी यज्ञ की भावना से ही सुखों को प्राप्त करते हैं तथा यज्ञीय जीवन जीकर अन्ततः मोक्षगामी होते हैं। निष्कर्षतः मन्त्र कहता है कि हमारी आयु, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि यज्ञभावना से संयुक्त हों।

■

[१८]

हुंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजाऽऋतजाऽअद्रिजाऽऋतं बृहत्॥
—यजुः० १०/२४

ऋषि—वामदेव, देवता—सूर्यपरमेश्वर

परमात्मा के दिव्य गुण-कर्मों का वर्णन करने के लिए वेद ने सहस्रों मन्त्र हमारे सम्मुख उपस्थित किए हैं। प्रस्तुत मन्त्र भी अनेक विशेषण प्रस्तुत करता हुआ परमेश्वर के अद्‌भुत, सर्वव्यापक, सर्वत्र परिपूर्ण, समस्त भूत पदार्थों में विद्यमान दिव्य स्वरूप का वर्णन करता है। आरम्भ में ही ईश्वर को 'हंस' कहा गया है। ऋषि दयानन्द ने इस पद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो परमात्मा सब पदार्थों को स्थूलरूप देता है, वह 'हंस'-वाच्य ईश्वर है। पवित्र पदार्थों में निवास करनेवाला परमात्मा शुचिषद् कहलाता है। विभिन्न ग्रह, नक्षत्र आदि जीवों के निवास-योग्य वसुओं में विद्यमान परमात्मा वसुषद् है। अन्तरिक्ष में भी उसी का निवास है। वह सब पदार्थों का दाता, ग्रहणकर्त्ता होने से होता है। वही पृथिवी आदि वेदियों में स्थित है और अतिथि के तुल्य पूजनीय तथा सम्मानास्पद है। वह निवासयोग्य सभी गृहादि स्थानों में अपने सर्वव्यापकत्व के कारण विद्यमान है, इसलिए मन्त्र में उसे 'दुरोणसत्' कहा गया है। मनुष्यों के भीतर निवास करने के कारण वह 'नृषत्' है, उत्तम पदार्थों में रहने के कारण 'वरसत्' है, ऋत और सत्य का अधिष्ठाता होने से परमात्मा ही 'ऋतसत्' है। शून्य आकाश में विद्यमान होने से वह 'व्योमसत्' कहलाता है। जलों का उत्पादक होने से 'अब्जा', पृथिवी आदि भौतिक पदार्थों का जन्मदाता होने के कारण 'गोजा', सत्यविद्या के ग्रन्थ वेदों को उत्पन्न करनेवाला होने से 'ऋतजा' कहलाता है। मेघ, पर्वत, वृक्ष आदि 'अद्रि'-संज्ञक पदार्थों का उत्पादक होने से वह 'अद्रिजा' है। वस्तुतः वह साक्षात् ऋतरूप तथा महान् (बृहत्) है। उपर्युक्त मन्त्रकथित परमात्मा ही हमारा पूज्य एवं उपास्य है। यही मन्त्र कठोपनिषद् (२/२/२) में भी आया है। ■

[१९]

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा।
साम्राज्याय सुक्रतुः॥ —यजुः० १०/२७

ऋषि—शुनःशेप, देवता—वरुण

वेदों में वरुण देवता का विवेचन करनेवाले मन्त्र अध्यात्म के उच्च धरातल पर स्थित हैं। वेदों में जिस वरुण का वर्णन है, वह मानव–प्रजा का न्यायशील राजा, उसके प्रति दया और करुणा दिखानेवाला तथा उसे सत्याचरणरूपी उत्कृष्ट नैतिक मूल्यों की ओर प्रेरित करनेवाला है। प्रस्तुत मन्त्र में उस वरुण परमेश्वर को 'धृतव्रत' कहा है। परमात्मा स्वयं तो सत्य व्रतों का पालक व धारक है ही, अन्यों को भी ऋत तथा सत्य के पालन में प्रवृत्त करता है। वह 'सुक्रतु' है। उत्तम कर्मों का करनेवाला तथा सबको यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों के करने की प्रेरणा देनेवाला ईश्वर ही मन्त्र में सुक्रतु पद से अभिहित किया गया है। वह समस्त जड़ तथा चेतन जगत् का सम्राट् है और यह विश्व–ब्रह्माण्ड उसका साम्राज्य है। ऐसा कृपालु वरुणदेव हम जीवों के ऐश्वर्य, वैभव तथा पराक्रम की वृद्धि करता हुआ स्व–अधिकार से ही सुशोभित हो रहा है।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार की विद्यमानता स्वीकार करते हुए ऋषि दयानन्द ने वरुण से विद्वान् धार्मिक पुरुष का अर्थ भी लिया है। उनका किया गया मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार है—"जैसे परमेश्वर सब प्रजाओं का सम्राट् है, उसी प्रकार ईश्वर की आज्ञा में रहनेवाला धार्मिक विद्वान् पुरुष शरीर, बुद्धि, बलसंयुक्त होकर साम्राज्य के निर्माण में समर्थ होता है।"

[२०]

योगेयोगे तुवस्तरं वाजेवाजे हवामहे।
सखायइन्द्रमूतये॥ —यजुः० ११/१४

ऋषि—शुनःशेप, देवता—क्षेत्रपति

परमात्मा को जीव अनेक स्थितियों में पुकारता है, उसकी स्तुति करता है, अपनी रक्षा के लिए उसका आह्वान करता है तथा उसे अपना रक्षक समझता है। प्रथम स्थिति तो उपासना की है। जीव और परमात्मा का सम्बन्ध ही उपास्य और उपासक का है। उपासना के लिए पतंजलि-निर्दिष्ट योग-साधना को ही सर्वोत्कृट माना गया है। किन्तु योगपद्धति का मूल भी हमें वेदों में ही मिलता है। **'युंजते मनउत युंजते धियः'** (यजुः० ५/१४) आदि मन्त्र ही योगविद्या के मूल माने जाते हैं। प्रस्तुत मन्त्र कहता है कि हे उपासको, तुम योग-साधना में प्रवृत्त होकर परमात्मा को पुकारो। अपनी रक्षा के लिए, स्वयं को श्रेष्ठ सत्मार्ग पर ले चलने के लिए उस ऐश्वर्यवान् इन्द्र का आह्वान करो।

प्रभु को पुकारने की एक अन्य स्थिति भी आती है। उस समय मनुष्य अनेक उलझनों, संघर्षों तथा युद्ध-जैसी स्थिति में स्वयं को घिरा पाता है। युद्ध केवल अस्त्र-शस्त्रों से लड़े जानेवाला ही नहीं होता। मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों, अनेक प्रकार के घात-प्रतिघातों से त्रस्त और व्याकुल मनुष्य की स्थिति भी युद्ध के लिए विवश किए जानेवाले सैनिक से भिन्न नहीं होती। इसलिए योग की ही भाँति युद्ध में भी परमात्मा को ही सहायक के रूप में पुकारने का निर्देश वेद ने दिया है। प्रस्तुत मन्त्र परमात्मा को सखा कहकर सम्बोधित करता है और आगत-अनागत विपत्तियों से त्राण पाने के लिए संर्वैश्वर्यवान्, सर्वसामर्थ्ययुक्त, अत्यन्त बलशाली उस इन्द्र को पुकारने के लिए कहता है।

■

[२१]

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिषऽऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥

—यजुः० ११/८३

ऋषि—नाभानेदि, देवता—यजमानपुरोहितौ

मनुष्य का शरीर पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश इन पाँच भूतों से निर्मित है। इस शरीर को स्वस्थ, नीरोग तथा निरन्तर सक्रिय बनाए रखने के लिए पौष्टिक अन्न ग्रहण करना आवश्यक है। मन्त्रगत 'अन्न' सभी भोज्य पदार्थों का वाचक है। सामान्यतया हम अन्नदाता उसे कहते हैं जो जीविका का साधन प्रदान करता है, किन्तु वस्तुतः जीवों के लिए समस्त प्रकार की भोग्य-सामग्री प्रस्तुत करनेवाला परमात्मा ही है, अतः मन्त्र में उसे ही 'अन्नपति' कहा गया है। भोजन करने से पूर्व इस मन्त्र को बोलकर परमात्मा से हम प्रार्थना करते हैं कि हे अन्नप्रदाता परमेश्वर, आप हमें ऐसा अन्न दीजिए जो रोग उत्पन्न करनेवाला न हो, स्वास्थ्यवर्धक हो तथा हमारे शरीर, इन्द्रियों तथा मन के बल की वृद्धि करनेवाला हो। परमात्मा हमें अन्न प्रदान करनेवाले दाता को भी तृप्त करे, उसे सब प्रकार से सुखी करे। यह अन्न केवल मनुष्यों के लिए ही नहीं, चौपायों के लिए भी दिया जाना चाहिए। धर्म की भावना से प्रदत्त तथा गृहीत अन्न ही मनुष्यों तथा चतुष्पदों में बल का आधान करता है।

वैदिक शास्त्रों में अन्न की बहुविध प्रशंसा की गई है। उपनिषद् कहता है—**अन्नं न निंद्यात् तद् व्रतम्।** (तैत्तिरीय० ३/७/७)—मनुष्य अन्न की निंदा कभी न करे, यह उसका व्रत होना चाहिए। गीता में सात्त्विक अन्न का सेवन बल, बुद्धि, आरोग्य तथा आत्मिक बल का वर्धक माना गया है। सात्त्विक आहार आयु, जीवन, बल, सुख और प्रेम को बढ़ानेवाला कहा गया है। इसके विपरीत राजस-कोटि का आहार दुःख और शोक का वर्धक है। अतः प्रत्येक स्थिति में अन्न को परमात्मा का दिव्य वरदान मानकर हम उसका सेवन करें, यही वेद को अभीष्ट है। ■

[२२]

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसोऽअदितये स्याम।।

—यजुः० १२/१२

ऋषि—शुनःशेप, देवता—वरुण

न्यायशील परमात्मा का नाम वरुण है। वह जीवों के शुभाशुभ कर्मों के फलों का तदनुसार विधान करता है। समस्त प्राणी इस वरुण के पाशों में ही बँधे हुए हैं। वरुण ने जीवों को तीन प्रकार के बंधनों से बाँध रक्खा है। वस्तुतः बन्धन तो मनुष्यों ने स्वयं ही अपने लिए बना रक्खे हैं। इनसे छुटकारा पाने के लिए उस न्यायशील परमात्मा की कृपा, अनुग्रह और दया चाहिए। इन्हीं त्रिविध बन्धनों से बँधा जीव परमात्मा से प्रार्थना करता हुआ कहता है—हे वरुण देव! आप मुझे इन त्रिविध बन्धनों से छुड़ाइए। इन पाशों को शिथिल कीजिए ताकि मैं स्वयं को स्वतन्त्र अनुभव करूँ। त्रिविध पाश इस प्रकार हैं—उत्तम पाश आत्मा को अज्ञान के बन्धन में डालते हैं। मध्यम पाश मनुष्य के मस्तिष्क तथा चिन्तन-शक्ति को कुण्ठित कर उसे जड़ बना देते हैं। अधम पाश शारीरिक भोग हैं जिनमें जकड़ा गया मनुष्य उच्च लक्ष्य से भ्रष्ट होकर क्षणिक दैहिक सुखों के पीछे भागता है। जब वरुण भगवान् हमारी यह प्रार्थना स्वीकार कर लेंगे तो हम उपासकगण उस आदित्य-अखण्ड व्रतधारी परमात्मा के शाश्वत नियमों का पालन करते हुए दीनता-रहित निष्पाप जीवन जिएँगे। मन्त्र में वरुण को ही आदित्य के नाम से वर्णित किया गया है। ऋषि दयानन्द ने आदित्य का अर्थ सत्यन्याय-प्रकाशक, अविनाशी परमात्मा किया है। ऋत और सत्य ही इस आदित्य द्वारा प्रवर्त्तित व्रत हैं, जिनका पालन प्रत्येक श्रेयपथगामी मनुष्य के लिए कर्त्तव्य है।

■

[२३]

अ॒श्व॒त्थे वो॑ नि॒षद॑नं प॒र्णे वो॑ वस॒तिष्कृ॒ता।
गो॒भाज॒ऽइत् किला॑सथ॒ यत्स॒नव॑थ॒ पूरु॑षम्॥ —यजुः० १२/७९

ऋषि—भिषग्, देवता—वैद्य

नश्वर संसार को शास्त्रों में अश्वत्थ कहा है। अश्वत्थ सामान्यतया पीपल का वाचक है। जो आज है, किन्तु कल रहेगा या नहीं, ऐसा नष्ट हो जानेवाला यह संसार ही अश्वत्थ है। शरीर भी अश्वत्थ है क्योंकि यह भी नश्वर ही है। ऐसे नष्ट हो जानेवाले शरीर में परमात्मा ने जीव का निवास बनाया है। शरीर में हम जीवों की स्थिति भी पत्तों के तुल्य क्षणिक ही है। जिस प्रकार जीर्ण पत्ता डाल से पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार मृत्यु-काल आने पर जीव भी शरीर से अलग हो जाता है। जब हमारे शरीर तथा उसके निवास इस संसार की यह नाशवान् स्थिति है तो मनुष्य के लिए कर्त्तव्य क्या है? वेद कहता है कि इस स्थिति में हम गोभाज बनें। गौ का अर्थ वेदवाणी, पृथिवी, किरण आदि हैं। हमें वेदवाणी का सेवन करना चाहिए तथा अपने आचरण को वेदानुकूल बनाना चाहिए। साथ ही हम ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विराजनेवाले परमात्मा की सेवा करें ताकि हमारे सभी अभीष्ट पूरे हों। शरीर की अनित्यता तथा संसार की चंचलता का अनुभव करते हुए मनुष्य को चाहिए कि वह वेदवाणी का सेवन करे, वेदानुकूल आचरण करे जिससे किं वह इस संसार में सुख प्राप्त कर सके।

■

[२४]

मा मा हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवꣳ सत्यधर्मा व्यानट् । यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
—यजुः० १२/१०२

ऋषि—हिरण्यगर्भ, देवता—कः

'कस्मै देवाय हविषा विधेम' की उक्ति से समाप्त होनेवाले मन्त्रों की शृंखला में इस मन्त्र का अपना महत्त्व है। मन्त्र का देवता 'कः' है जो प्रजापति का वाचक है। परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए मन्त्र कहता है कि उस सत्यधर्मा ईश्वर ने इस पृथिवी को उत्पन्न किया है। उसी ने सूर्यादि दिव्य लोकों का भी निर्माण किया है। मनुष्य के निवासार्थ पृथिवी का निर्माण करने के पश्चात् उसने जल तथा शीतलता प्रदान करनेवाले चन्द्रमा की रचना की। ऐसे सुखस्वरूप परमात्मा के लिए ही हमें अपनी भक्ति समर्पित करनी चाहिए। वह परमात्मा हम प्राणियों को किसी प्रकार प्रताड़ित न करे। मन्त्र में प्रजापति को सत्यधर्मा कहा गया है। ऋत और सत्य जैसे नैतिकता के उच्चतम मानदण्डों की स्थापना स्वयं जगदीश्वर ने ही की है। उसकी न्याय-व्यवस्था तथा ब्रह्माण्ड के शासन की प्रक्रिया सत्य पर आधारित है, इसलिए उसके अनेक नामों में सत्य भी एक नाम है। पृथिवी तथा द्यौ आदि लोकों का निर्माता तो वह है ही, प्राणियों के जीवन धारण करने में सहायक जलादि भौतिक पदार्थों का भी रचयिता वही है। वेदों का सर्वोपरि महत्त्व इस तथ्य को प्रतिपादित करने में है कि मनुष्य के लिए परमात्मा से भिन्न अन्य कोई पदार्थ पूज्य, उपास्य तथा आराध्य नहीं है। 'कः' सुखस्वरूप परमात्मा का वाचक होने से ऋषि दयानन्द ने 'कस्मै' का अर्थ सुखस्वरूपाय, तथा सुखकारकाय किया है। यूरोपीय विद्वानों ने इस पद के तत्त्वार्थ को नहीं समझा और आर्यों के उपास्य परमात्मा को अनिर्धारित तथा अनिर्णीत माना, जो स्पष्ट ही उनकी भूल थी। 'हवि' केवल यज्ञ में आहुतिरूप में प्रयुक्त किए जानेवाले शाकल्य का ही वाचक नहीं है; यह भक्ति तथा उपासना के लिए ही यहाँ प्रयुक्त हुआ है। ■

[२५]

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य।
सम्राडेको विराजति॥ —यजुः० १२/११७

ऋषि—प्रजापति, देवता—अग्नि

वेदों में परमात्मा की स्तुति नाना नामों से की गई है। विभिन्न नामों से स्तुत्य और पूज्य यह परमात्मा तो वास्तव में एक ही है, तथापि विद्वान् लोग उसे नाना नामों से पुकारते हैं। **'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति'** की ऋग्वेदीय उक्ति के आधार पर यह कहना समीचीन है कि इन्द्र, मित्र, वरुण आदि नाम उस परमात्मा के ही हैं। वेदों में इन्द्र और अग्निपरक मन्त्रों की संख्या सर्वाधिक है। गायत्री छंद में निबद्ध इस मन्त्र में अग्नि को सम्राट् कहकर वर्णित किया गया है। जिस प्रकार संसारी प्रजा पर सर्वशक्तिशाली सम्राट् का निर्बाध शासन होता है, उसी प्रकार इस विश्वब्रह्माण्ड का एकमात्र शासक अग्नि-परमात्मा ही है। वह सम्राटों का भी सम्राट् तथा विश्वविधाता है। सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी होने से संसार की कोई वस्तु या पदार्थ उससे अविदित नहीं है। ऐसा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अग्नि-परमात्मा मनुष्यों के हृदयरूपी प्रिय धामों में निवास करता है। आज संसार के अज्ञानीजन परमात्मा की तलाश में नाना स्थानों पर भटकते हैं, विभिन्न नदी-तटों, पर्वतीय गुहाओं तथा शिखरों पर उसकी तलाश में जाते हैं। भिन्न-भिन्न पूजास्थल बनाकर मानो उन्होंने परमात्मा को किसी स्थानविशेष का ही निवासी मान लिया है। वैदिक चिन्तन के अनुसार तो मनुष्य का हृदयस्थल ही परमात्मा का ऐसा निवास है जहाँ जीव के लिए उसका साक्षात्कार करना अधिक आसान है। किसी वस्तु या पदार्थ को प्राप्त करना तभी सुलभ होता है, जब पानेवाला भी वहीं मौजूद हो, जहाँ वह पदार्थ है। परमात्मा तो घट के भीतर ही है और जीवात्मा भी एकदेशीय होने के कारण तत्रस्थ है, अतः हृदय-मंदिर में ही उसका दर्शन एवं साक्षात्कार सम्भव है। हृदयरूपी पवित्र धाम में विराजनेवाले अग्निदेव को हम अपना सम्राट् मानें, यही मन्त्र का अभिप्राय है। ■

[२६]

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—यजुः० १३/४, २३/१, २५/१०

ऋषि—हिरण्यगर्भ, देवता—प्रजापति

वेदों का प्रसिद्ध हिरण्यगर्भ सूक्त, परमात्मा के दिव्य गुण-कर्मों का वर्णन प्रस्तुत करता है। यहाँ ईश्वर को 'हिरण्यगर्भ' कहकर सम्बोधित किया गया है। सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशमान् पदार्थों को अपने भीतर धारण करनेवाला हिरण्यगर्भ परमात्मा ही इस सृष्टि के आरम्भ में विद्यमान था। वही जड़ तथा चेतन जगत् का एकमात्र स्वामी, अधिपति तथा नियामक है। यह संसार जिसमें पृथिवी, द्यौ तथा अन्तरिक्ष आदि लोक विद्यमान हैं, उसी सर्वाधार परमात्मा का आधार लेकर स्थित हैं।

यह हिरण्यगर्भ-पदवाची परमात्मा ही हमारी भक्ति और वंदना का अधिकारी है। मन्त्र में प्रयुक्त पद कस्मै 'किस देवता के लिए' का अर्थ नहीं देता, किन्तु जैसा कि ब्राह्मणग्रन्थ ने स्पष्ट किया है 'कः'=सुखस्वरूप परमात्मा का वाचक है और 'कस्मै' का अर्थ 'उस सुखस्वरूप परमात्मा के लिए' करना ही उचित है। मन्त्र में प्रयुक्त 'हवि' शब्द किसी भौतिक वस्तु का परिचायक नहीं है। परमात्मा को भोजनादि पदार्थ अर्पित करना व्यर्थ है। स्वामी दयानन्द ने संस्कारविधि के स्तुति, प्रार्थना, उपासना प्रकरण में इस मन्त्र में आए 'हविषा' का अर्थ 'ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और विशेष भक्ति' किया है, जो सर्वथा उपयुक्त तथा प्रसंगोचित है। ईश्वर के गुणों का स्तवन, कीर्तन तथा कथन ही स्तुति है। अतः महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र को स्तुति प्रकरण में रखना उचित समझा। दिव्य गुणों से परिपूर्ण, स्वयं सुख एवं आनन्दयुक्त तथा अन्य को सुख प्रदान करनेवाला परमात्मा ही मनुष्य के लिए एकमेव आराध्य और उपास्य है। ■

[२७]

मधु वाताऽऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥ —यजुः० १३/२७

ऋषि—गोतम, देवता—विश्वेदेवाः

वेदों का जीवनदर्शन आनन्द, तृप्ति, सुख तथा आशावाद से परिपूर्ण है। वस्तुतः वैदिक चिन्तन में जीवन के प्रति एक स्वस्थ तथा समग्रतापूर्ण दृष्टि प्रस्तुत की गई है। कालान्तर में बौद्ध दर्शन ने भारत की इस स्वस्थ चिन्तनधारा में दुःख, अवसाद, पलायन और निराशा के स्वर भरे। ऋषि दयानन्द ने इस रुग्ण मानसिकता का भरपूर विरोध किया और स्पष्ट किया कि मानव-जीवन में दुःखों की अपेक्षा सुखों की बहुलता है, इसलिए आनन्द और आशा से भरपूर जीवन को जीना ही मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए। वेदों में इसी जीवन-दृष्टि की व्याख्या करनेवाले अनेक मन्त्र हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहा गया है कि हमारे आसपास का सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत् ही मधुरता से परिपूर्ण है। हवाएँ मधुरता से युक्त होकर प्रवाहित होती हैं। नदियों का जल भी मधुरता से परिपूर्ण है। जल, वायु, पृथिवी आदि से उत्पन्न होनेवाली नाना ओषधियाँ भी हमारे लिए मधुर गुणयुक्त हों ताकि उनके सेवन के द्वारा हम अपने शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा को स्वस्थ, सन्तुलित, आनन्दी तथा आशापूर्ण बनाएँ। शीतल, मंद, सुगंधित हवा, अमृत-तुल्य जीवन-रस प्रवाहित करनेवाली नदियाँ तथा स्वास्थ्यदायक ओषधियाँ क्या परमात्मा की मधुर देन नहीं हैं?

[२८]

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता॥ —यजुः० १३/२८

ऋषि—गोतम, देवता—विश्वेदेवाः

जीवन को मधुरता से परिपूर्ण करने और उसमें आनन्द के भावों का संचार करनेवाले विचारों को महत्त्व देना वेद का परम इष्ट है। इसलिए प्रस्तुत मन्त्र कहता है कि हमारी रात्रियाँ आनन्द, उल्लास और मधुरता से व्यतीत हों। जब हम इस प्रकार पूर्ण शान्तियुक्त और सुखपूर्ण निद्रा को समाप्त कर ऊषाकाल में शैया-त्याग करें तो हमारे लिए प्रभात की स्वर्णिम रश्मियाँ भी मधु-वर्षा करती हुई प्रकट होवें। पृथिवी तो समस्त प्राणियों का जीवनाधार ही है। इस पृथिवी के त्रसरेणु (वेद की भाषा में रज) भी हमारे लिए सुखद तथा मधुरता से भरपूर हों। यह द्यौलोक जो संसार का पालक और रक्षक होने से 'पिता' संज्ञावाला है, वह भी हमारे लिए मधुरता से युक्त होवे। वस्तुतः सृष्टि के कण-कण में मधुरता को अनुभव करना जीवन के प्रति स्वस्थ तथा रचनात्मक दृष्टिकोण रखने से ही सम्भव है। जब ऐसी आनन्दमयी जीवन-दृष्टि हमें प्राप्त हो जाती है तो दिन और रात्रि, प्रातः और सायं, धरती और आकाश तथा सभी दिशाएँ—सर्वत्र हमें मधुरता का ही अनुभव होगा।

■

[२९]

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ२ऽअस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ —यजुः० १३/२९

ऋषि—गोतम, देवता—विश्वेदेवाः

जीवन में मधुरता को सर्वत्र अनुभव करने तथा तदनुकूल उसे स्वस्थ, सन्तुलित तथा आनन्दयुक्त बनाना तभी सम्भव है जब हमारा आहार-विहार भी वैसा ही हो। अतः मन्त्र में यह कामना की गई है कि जिन वनस्पतियों आदि को हम अपना आहार बनाते हैं, वे मधुर रस से भरपूर हों, जिनका सेवन कर हम सदा स्वास्थ्यलाभ करते रहें। इन वनस्पतियों में जीवनी-शक्ति भर देनेवाला सूर्य भी हमारे लिए मधुरता लेकर आए। सामान्यतः सूर्य तो उष्णता, तेजस्विता तथा ओज का प्रतीक है, परन्तु वह जिन वनस्पतियों में पुष्टिवर्धक, आरोग्यदायक तथा स्वास्थ्यप्रदायक तत्त्वों का समावेश करता है, वे प्रकृत्या मधुर ही होते हैं। वनस्पतियों की ही भाँति गायों से प्राप्त होनेवाले दुग्ध, दही, घृत, मक्खन आदि पदार्थ भी हमारे शरीर तथा मन को स्वस्थ, पुष्ट तथा मधुर बनाते हैं, इसलिए मन्त्र में यह कामना प्रकट की गई है कि हमारे परिवार की गौएँ भी मधुर रस प्रदान करनेवाली हों। 'गौ' वाणी तथा सूर्यरश्मियों का भी वाचक है। हम अपनी वाणी को मधुरतायुक्त बनाएँ तथा सूर्य की किरणें भी हमारे लिए स्वास्थ्य तथा बल प्रदान करें, यह अर्थ भी प्रकारान्तर से लिया जा सकता है।

[३०]

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता॥

—यजुः० १४/२०

ऋषि—विश्वदेव, देवता—अग्न्यादयः

वेद के मन्त्रों में वर्णित विषय को 'देवता' कहा गया है। वेदों में जिन देवताओं का वर्णन है, वे प्रकरणानुसार कहीं भौतिक पदार्थों के वाचक हैं, कहीं मन, प्राण आदि के प्रतीक हैं तो अन्यत्र आत्मा तथा परमात्मा के अर्थों के भी द्योतक हैं। अन्ततः ये सभी नाम परमात्मा के अनन्त नामों में ही समाविष्ट हो जाते हैं। इसी अभिप्राय को स्वामी दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में व्यक्त करते हुए लिखा है कि प्रकारान्तर से सभी वेदमन्त्र परमात्मा का ही वर्णन करते हैं। आलोच्य मन्त्र में जिन देवताओं का उल्लेख हुआ है, वे हैं : अग्नि—भौतिक अग्नि अथवा अग्रगन्ता परमात्मा, वात—वायु अथवा प्रचण्ड शक्तिशाली ईश्वर, सूर्य—भौतिक सूर्य अथवा प्रकाशमान् परमात्मा, चन्द्रमा—आकाशस्थ नक्षत्र अथवा शीतलता तथा शान्ति देनेवाला परमात्मा, वसु—पृथिवी आदि आठ वसु अथवा ब्रह्माण्ड-धारक ईश्वर, रुद्र—प्राणादि एकादश रुद्र अथवा शत्रुनाशक परमेश, आदित्य—बारह मास अथवा दिव्य गुणयुक्त परमात्मा, मरुत—मननकर्ता विद्वान् अथवा परम मनस्वी परमात्मा, विश्वेदेवा—उत्तम गुणयुक्त विद्वान् अथवा समस्त विद्वानों में उत्कृष्ट ईश्वर, बृहस्पति—वेदों का विद्वान् अथवा ब्रह्माण्ड का स्वामी परमात्मा, इन्द्र—विद्युत् अथवा परमैश्वर्यवान् परमेश्वर, वरुण—श्रेष्ठ वरणीय गुणोंवाला विद्वान् अथवा न्यायशील परमेश्वर। इस प्रकार अग्नि आदि द्वादश देवताओं का उल्लेख कर वेद कहता है कि इन देवताओं का भी देवता महादेव, जो सबका धर्त्ता, स्रष्टा, पालक, व्यवस्थापक, प्रलयकर्त्ता, अज, सर्वशक्तिमान् सकल जगत् का अधिष्ठाता है, वही सब मनुष्यों के लिए ज्ञातव्य तथा उपासना के योग्य है।

[३१]

स॑सुमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य्य आ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर॥ —यजुः० १५/३०

ऋषि—परमेष्ठी, देवता—अग्नि

ऋग्वेद के अन्तिम संज्ञान सूक्त में पठित यह मन्त्र अग्नि-परमात्मा से जीव की प्रार्थना सूचित करता है। सर्व सुखों का वर्षक होने के कारण अग्नि को वृषन् कहा गया है। वह 'अर्य'=स्वामी भी है। सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान् होने के कारण वह इस चराचर जगत् में सर्वत्र व्याप्त है, विद्यमान है तथा सर्व पदार्थों से संयुक्त है। वह जहाँ पृथिवी तथा अन्य पार्थिव पदार्थों में मौजूद है, वहीं वह भक्तों द्वारा प्रस्तुत स्तुतिरूपा वाणी से अभिव्यक्त होता है। ऐसा प्रचुर द्रव्यों का दाता, वदान्य परमात्मा हमें नाना प्रकार के वसुओं—धनों से सम्पन्न करे।

मन्त्र में जिन मुख्य बातों का उल्लेख है, उन्हें संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है—परमात्मा सब पर सुखों की वर्षा करनेवाला स्वामी है। वह जड़-जंगम वस्तुओं को सम्प्राप्त है। संसार में कोई ऐसी वस्तु, पदार्थ या प्राणी नहीं है जिसमें ईश्वर स्वसत्ता से विद्यमान न हो। सर्वव्यापक होने पर भी उसे उपासकगण अपने हृदयदेश में ही देखते हैं तथा नाना स्तुतिरूप यज्ञों से उसकी उपासना करते हैं। वह अपने भक्त और उपासक को नाना वस्तुएँ प्राप्त कराता है। 'वसु' धन का वाचक है, किन्तु इस पद से मात्र धन, ऐश्वर्य आदि भौतिक वैभव ही हमारे काम्य नहीं हैं; वस्तुतः परमात्मा की भक्ति ही वह सर्वश्रेष्ठ वसु है जिसे प्राप्त करने में मनुष्य को पुरुषार्थ करना चाहिए तथा उसी वसु की उससे याचना भी करनी चाहिए।

■

[३२]

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥

—यजुः० १६/४१

ऋषि—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः, देवता—रुद्राः

यजुर्वेद के इस मन्त्र को ऋषि दयानन्द ने नित्य की जानेवाली संध्योपासना के अन्त में नमस्कार-क्रिया में विनियोजित किया है। परमात्मा की नैत्यिक उपासना की समाप्ति पर हम प्रणत-भाव से परम पिता को नमस्कार करते हुए निवेदन करें—हे प्रभो! आप सुखस्वरूप, जीवों को सुख देनेवाले शम्भु हैं, हम आपको प्रणाम करते हैं। आप संसार में सर्वोत्तम सौख्यप्रदायक मयोभव हैं, हम आपको नमस्कार करते हैं। आप कल्याणकारी शंकर हैं, हम आपको भक्तिपूर्वक नमन करते हैं। आप अपने भक्तों को सुख प्रदान करनेवाले तथा उन्हें धर्म-कार्यों में नियुक्त करनेवाले हैं, अतः हम आपको भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हैं। अत्यन्त मंगलस्वरूप होने से आप शिव तथा शिवतर भी हैं। धार्मिक मनुष्यों को मोक्षसुख-प्रदाता होने के कारण आप ही हमारे आराध्य, उपास्य तथा पूज्य हैं।

पौराणिक काल में शम्भु, शंकर आदि शब्दों का एक काल्पनिक देवता के लिए प्रयोग होने लगा जो पुराण-गाथाओं के अनुसार कैलास पर्वतवासी, हिमालय की पुत्री पार्वती का पति, नन्दी (बैल) पर सवारी करनेवाला, श्मशान की भस्म को लपेटनेवाला, त्रिनेत्र, गंगा और अर्धचन्द्र को ललाट पर धारण करनेवाला तथा त्रिपुरादि राक्षसों का वध करनेवाला है। इसी शिव को शिवपुराण तथा लिंगपुराण आदि ग्रन्थों में सृष्टि का रचयिता, धारणकर्त्ता तथा संहारक बताया गया है, तथा विष्णु की ही भाँति उसके विभिन्न अवतारों की भी कल्पना की गई है। तथ्य यह है कि परमात्मा के वेदोक्त शिव, शंकर आदि नामों का तत्त्वार्थ न समझने के कारण ही ये कल्पनाएँ की गई हैं। ■

[३३]

वि॒श्वत॑श्चक्षुरु॒त वि॒श्वतो॑मुखो वि॒श्वतो॑बाहुरु॒त वि॒श्वत॑स्पात्।
सं बा॒हुभ्यां॒ धम॑ति॒ सं पत॑त्रै॒र्द्यावा॒भूमी॑ ज॒नय॑न्दे॒वऽएकः॥

—यजुः० १७/१९

ऋषि—विश्वकर्मा भौवन, देवता—विश्वकर्मा

वेदों में परमात्मा का विविध शैलियों में वर्णन किया गया है। उसके सर्वव्यापक होने का उल्लेख नाना रूपों में, यत्र-तत्र आलंकारिक शैली का सहारा लेकर भी किया गया है। सर्वद्रष्टा होने के कारण वह परमेश 'विश्वतश्चक्षु' है। उसका पसारा सर्वत्र—सब ओर है, इसलिए उसे 'विश्वतोमुख' कहा गया है। सर्वत्र व्याप्त होने और निखिल ब्रह्माण्ड को अपने भीतर समाविष्ट कर लेने के कारण वही परमपिता 'विश्वतोबाहु' है। उसकी चेष्टाएँ और गति सर्वत्र है, वह सर्वत्र गतिशील होने से 'विश्वतस्पात्' है। द्यौलोक और पृथिवीलोक का उत्पादक वह परमात्मा अपने दिव्य कर्मों और दिव्य शक्तियों के बल पर इस संसार का शासन कर रहा है। वह अपनी शक्ति और पराक्रम से संसार को आन्दोलित कर रहा है। जिस प्रकार एक शक्तिशाली पुरुष अपने भुजबल से हलचल मचा देता है, थोड़ी देर के लिए समस्त वातावरण को आन्दोलित कर देता है, उसी प्रकार परमात्मा अपनी दिव्य शक्तियों के बल पर संसार में खलबली मचा देता है। भूकम्प, ज्वालामुखी, जलप्लावन आदि के विनाशकारी दृश्य परमात्मा की ही अपार शक्ति द्वारा घटित होते हैं। परमात्मा की इस सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वव्यापकता को दर्शाने के लिए ही वेदमंत्र ने उसे सर्वत्र चक्षुओंवाला, सर्वत्र मुखवाला, सर्वत्र प्रसारित भुजाओंवाला तथा सर्वत्र व्याप्त पांवोंवाला बताया है।

■

[३४]

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधाऽएकऽएव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥

—यजुः० १७/२७

ऋषि—विश्वकर्मा भौवन, देवता—विश्वकर्मा

परमात्मा का वर्णन करते हुए मन्त्र ने उसे हम सब का पिता, जन्मदाता कहा है। वह जन्मदाता इस अर्थ में है क्योंकि वही जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उपयुक्त शरीर प्रदान करता है। वह जीवों का पालनकर्त्ता होने से भी हम सब का पिता है। संसार का उत्पादक और जनक होने के कारण वह जनिता कहलाता है। वह विधाता भी है क्योंकि वही जीवों को उनके कर्मों के फल का दाता तथा ब्रह्माण्ड का धारणकर्त्ता है। सर्वज्ञ होने से वह विश्व-ब्रह्माण्ड की स्थिति, गति और प्रगति को भली-भाँति जानता है। वेदों में जिन देवों को अग्नि, वायु, आदित्य, इन्द्र, वरुण, मित्र, पूषा आदि नामों से पुकारा गया है, वस्तुतः उन नामों को धारण करनेवाला वह परमात्मा स्वयं ही है। उसी परमात्मा को अपना आश्रय बनाकर समस्त लोक-लोकान्तर अपनी-अपनी कक्षाओं में गति कर रहे हैं। परमात्मा की सिद्धि में इस देश के नैयायिकों ने जो प्रमाण दिए हैं, उनमें एक प्रमुख प्रमाण संसार का धारणकर्त्ता होने के कारण उसके अस्तित्व को स्वीकार करना भी है। वेद के इस मन्त्र में इसी तथ्य को उद्घाटित किया है तथा यह स्पष्ट किया है कि परमात्मा की एक और अद्वितीय सत्ता ने ही इन लोक-लोकान्तरों को धारण किया हुआ है। जड़ संसार को गति देना चेतन तथा सर्वव्यापक परमात्मा का ही कौशल है।

■

[३५]

न तं विदाथ य ऽइमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप ऽउक्थशासश्चरन्ति॥

—यजुः० १७/३१

ऋषि—विश्वकर्मा भौवन, देवता—विश्वकर्मा

मनुष्य ने यद्यपि ज्ञानोपार्जन के क्षेत्र में असीम उन्नति की है, किन्तु अभी तक उसके ज्ञान को परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। उसने प्रकृतिजन्य वस्तुओं को जानने का भरसक प्रयास किया, परन्तु उस परमपिता को ही वह अभी कहाँ जान पाया, जिसने इस विश्व-ब्रह्माण्ड को रचा है। परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना ही मानव-जीवन की सफलता है। निश्चय ही वह परमात्मा जीव से भिन्न है, किन्तु उससे किसी प्रकार दूर नहीं है। वह उसके हृदय-मंदिर में ही विराज रहा है। शास्त्रों में सर्वत्र ईश्वर को जीव के निकटतम हृदयरूपी गुहा में विराजमान बताया है। जब वह इतना निकट है तो हम उसे देख क्यों नहीं पाते? उसका साक्षात्कार करने में कौन-से तत्त्व बाधक हैं? मन्त्र इसका भी उत्तर देता है। प्रथम तो अज्ञानान्धकार (नीहार) का पर्दा है जो उस परमात्मा के दर्शन करने में बाधक बनता है। जब तक अज्ञान के आवरण को दूर नहीं किया जाएगा, तब तक ईश्वर का दर्शन होना सम्भव नहीं। एक अन्य बाधा यह है कि मनुष्य ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को जानने का यत्न तो करता नहीं, अपितु इधर-उधर की व्यर्थ जल्पना (असंयत वाक्-व्यवहार) में अपना समय नष्ट करता रहता है। ईश्वरप्राप्ति के लिए वाणी के संयम की ही भाँति इन्द्रिय-संयम भी आवश्यक है। केवल अपने ही प्राणों का पोषण ईश्वर के मार्ग में बाधक है। शारीरिक सुखों से उपराम होने के पश्चात् ही ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है। एक अन्य बाधा यह भी है कि आज मनुष्यों के लिए अध्यात्म का मार्ग केवल वाग्-विलास का ही विषय रह गया है। सच्चे जिज्ञासु बने बिना इस श्रेय-मार्ग का पथिक बनना कठिन है। ■

[३६]

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽअस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽअस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ२ऽआविवेश॥

—यजुः० १७/९१

ऋषि—वामदेव, देवता—यज्ञपुरुष

वेद वस्तुतः काव्य है, किन्तु यह किसी सामान्य कवि की कृति नहीं है। इसका रचयिता परमात्मा है जिसने अपनी दिव्य कविता को चारों वेदों के रूप में हमें दिया है। जिस प्रकार काव्य की रचना विभिन्न शैलियों में की जाती है, उसी प्रकार वेदमन्त्रों में भी वर्णन की अनेक शैलियों का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र पहेली की शैली में लिखा गया है। इसमें एक ऐसे वृषभ (सुखों के वर्षक तथा संसार के धारक) की कल्पना की गई है जिसके चार सींग हैं, तीन पाँव हैं, दो सिर तथा सात हाथ हैं। यह विचित्र बैल त्रिधा (तीन प्रकार से) बद्ध है, महादेव है, मरणधर्मा मनुष्यों में व्याप्त होकर गर्जन कर रहा है। यह तो हुई पहेली। इसको बूझने का प्रयत्न वेदार्थ के विशेषज्ञ ऋषियों ने अपनी-अपनी योग्यता तथा तर्कशक्ति से किया है। उदाहरणार्थ, आचार्य यास्क ने इसे यज्ञपरक अर्थ में लिया तो महर्षि पतञ्जलि ने वैयाकरण होने के कारण इसे शब्दशास्त्र पर घटाया। यदि इस मन्त्र के ईश्वरपरक अर्थ करें तो वह इस प्रकार होगा—चारों दिशाएँ ही परमात्मा के शृंगवत् हैं, तीन काल अथवा त्रिभुवन (अन्तरिक्ष, द्यौ तथा पृथिवी) इसके पाद-स्थानीय हैं। चेतना और आनन्द इस वृषभ (परमात्मा) के दो शिर हैं। महत् तत्त्व तथा अहंकार-सहित पञ्चमहाभूत इसके सात हाथ हैं जिनके प्रसार से वह इस भौतिक जगत् का निर्माण करता है। सत्, चित्, आनन्द—इन त्रिविध लक्षणोंवाला ब्रह्मरूपी वृषभ त्रिधाबद्ध है। यही उसका मौलिक स्वरूप है। यह महादेव परमात्मा मरणधर्मा प्राणियों में विद्यमान है, तथा वेदज्ञान का उपदेश देता हुआ उन्हें सन्मार्ग-गामी होने की प्रेरणा देता है। ■

[३७]

पयः पृथिव्यां पयऽओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः।
पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम्॥ —यजुः० १८/३६

ऋषि—देवाः, देवता—रसविद्याविद्विद्वान्

'पय' शब्द का प्रयोग दूध, जल तथा सामान्य रस के अर्थ में होता है। परमात्मा से भक्त की याचना है कि वह इस धरती को जल, दुग्ध तथा रसों से परिपूर्ण कर दे। वस्तुतः धरती से ही वृक्ष, वनस्पति, अन्नादि उत्पन्न होते हैं और इनसे ही दुग्ध तथा फलों के रसों की प्राप्ति होती है। पृथिवी की ही भाँति ओषधियाँ भी पुष्टिकारक रस–तत्त्व को धारण करनेवाली हों। ओषधियों में जो रस पाए जाते हैं, स्वाद की दृष्टि से यद्यपि भिन्न–भिन्न होते हैं, तथापि वे आरोग्यप्रद तथा पुष्टिवर्धक होते हैं। इसी प्रकार द्यौलोक तथा अन्तरिक्षलोक भी रसों से परिपूर्ण हों। जल की वर्षा अन्तरिक्ष से होती है। वर्षा का यह जल स्वयं तो रस–रूप है ही, पृथिवी में जाकर अन्य रसों की उत्पत्ति का भी कारण बनता है। निश्चय ही हमारे लिए तो उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम आदि सभी दिशाएँ सब ओर से हमारे लिए रसों की वृष्टि करें। आलोच्य मन्त्र में 'रस' को मात्र जल, दूध, फलों के रस का वाचक ही नहीं मानना चाहिए। यह प्रभुभक्ति का आनन्दजन्य रस भी है जिसे भक्त सदा अनुभव करता है। प्रभु का स्मरण करने पर उसे सर्वत्र रसवृष्टि होती दिखाई देती है।

■

[३८]

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचः राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥ –यजुः० १८/४८

ऋषि–शुनःशेप, देवता–बृहस्पति

वेद की शिक्षा समस्त समाज में सामञ्जस्य, सौमनस्य, परस्पर प्रेम तथा सहानुभूति के भावों को जागृत करने की है। यद्यपि यहाँ गुण–कर्मानुसार मानव–समाज का चार वर्णों में विभाजन भी किया गया है, किन्तु यह व्यवस्था श्रम के विभाजन तथा स्वरुचि के अनुकूल जीवनयापन के साधन को चुनने के लिए ही बनाई गई थी। चारों वर्णों में परस्पर प्रेम, एक–दूसरे के प्रति सद्भावना तथा सम्मान के भावों को जागृत करने की शिक्षाएँ वेद में सर्वत्र हैं। भक्त की प्रार्थना है कि हे भगवन्, आप हमारे ब्राह्मणों में तेज और परस्पर प्रेम का भाव जागृत करें। इसी प्रकार क्षत्रियों में भी एक–दूसरे के प्रति तथा समाज के अन्य वर्गों के लिए प्रेम तथा तेजस्विता के भाव रहें। ब्राह्मण ब्रह्मतेज, ज्ञान तथा आध्यात्मिक शक्ति–सम्पन्नता का पर्याय है। क्षत्रिय शारीरिक शक्ति, ओज, बल, तेज तथा वर्चस्व का प्रतीक है। वैश्य भौतिक समृद्धि तथा समाज के आर्थिक विकास का वाहक है। शूद्र ने जन–समाज की सेवा का दायित्व अपने कंधों पर लिया है। इस प्रकार समाज के चारों वर्णों में परस्पर प्रेम, सौमनस्य तथा सहानुभूति के भावों को भरने की शिक्षा देनेवाला यह मन्त्र प्रत्येक व्यक्ति को भी इन्हीं भावों को अंगीकार करने की प्रेरणा देता है। **'मयि धेहि रुचा रुचम्'** का यही अभिप्राय है। यह तेज़ और प्रेम हमारे भीतर भी रहे, यही मन्त्र की कामना है।

■

[३९]

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि॥ —यजु:० १९/९

ऋषि—आभूति, देवता—सोम

याजक भगवान् से प्रार्थना करता है तथा कतिपय वस्तुओं (गुणों–वृत्तियों) की उससे याचना करता है। हम जो वस्तु जिससे माँगें, हमें यह पता होना चाहिए कि वह वस्तु उसके पास है। भगवान् से हम उन्हीं बातों की याचना करें जो वे दे सकते हैं। परमात्मा परम तेजस्वी है; वह हमें शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक तेज प्रदान करे। वह परम बलशाली है। उसका ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक हैं। वह हमें आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक बल देने में समर्थ है। वेद उसे 'आत्मदा' और 'बलदा' कहता है, अत: हम परमपिता से बल की याचना करें, यह स्वाभाविक ही है। वह परम ओजस्वी है; उसके ओज, तेज और पराक्रम का अनुमान लगाना भी सम्भव नहीं है, अत: हम अपने व्यक्तित्व को ओजस्वी, तेजस्वी, पराक्रमी तथा वर्चस्वी बनाने के लिए उसे ही पुकारें, याचना करें तथा उस परम ओजस्वी का आह्वान करें। परमात्मा में जहाँ दीन–दुखियों, पीड़ितों और शोषितों के प्रति दया का भाव है, वहाँ वह दुष्टों, अत्याचारियों, शोषकों और अन्यायियों के प्रति अपने मन्यु (क्रोध) का प्रदर्शन ही नहीं करता, अपने न्यायाचरण के द्वारा उन्हें यथोचित दण्ड भी देता है। हम भी उस मन्युशील परमात्मा से उस सात्त्विक क्रोध की याचना करें ताकि संसार में होनेवाले अत्याचार, शोषण तथा अन्याय को रोकने में समर्थ हों तथा अपराधियों को दण्डित कर सकें। परमात्मा की सहनशीलता की तो कोई सीमा ही नहीं है। वह नास्तिकों के कटु वचनों को सहन ही नहीं करता, अपनी परम दयालुता से उन्हें क्षमा भी करता है। ऐसा सहनशील परमात्मा हमें भी सहन करने की शक्ति दे। ■

[४०]

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥ –यजुः० १९/३९

ऋषि–वैखानस, देवता–विद्वांसः

पवित्रता मनुष्योचित गुण है। शारीरिक स्वच्छता, मानसिक पवित्रता, तथा आत्मोन्नति मनुष्य के लिए ही सम्भव है। पशु–पक्षियों में पवित्रता–अपवित्रता का विचार नहीं होता। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक पावनता प्राप्त करने के लिए स्मृतिकार मनु ने विभिन्न उपाय बताए हैं। उनके अनुसार जल के द्वारा शारीरिक पवित्रता अर्जित की जाती है तो सत्याचरण से मन की शुद्धि होती है। विद्या और तप से आत्मा पवित्र होती है तथा ज्ञानवृत्ति को जगाने से बुद्धि पवित्र बनती है। प्रस्तुत मन्त्र में विभिन्न स्रोतों से पवित्रता की याचना की गई है। प्रधानतः तो वे देवजन विद्वान्‌गण ही हैं जो हमें पवित्र करते हैं। अपने उदात्त, श्रेष्ठ तथा मंगलविधायक विचारों का हम में संक्रमण कर हमें उत्कृष्ट भाव–भूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं। इसी प्रकार हमारे मानसिक धरातल पर अवतीर्ण होनेवाली विभिन्न चिन्ताधाराएँ–बुद्धियाँ–भी हमें पवित्र करती हैं। यही कारण है कि वैदिक दर्शन में बुद्धि के परिष्कार को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। यदि हमारी मानसिक वृत्तियाँ पवित्र होंगी तो हमारे चरित्र में भी वही पवित्रता परिलक्षित होगी। यों देखा जाए तो संसार के समस्त प्राणी तथा स्थूल भौतिक पदार्थ भी हमें पवित्रता का संदेश देते हैं। मूलतः पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश सभी पवित्र हैं। इनमें यदि अपावनता दिखाई देती है तो वह मनुष्य के द्वारा ही संक्रमित है। इन्सान ने ही प्रकृति को अपवित्र किया है, अतः सम्पूर्ण भूतों से पावनता की प्रेरणा लेने में हमें संकोच क्यों हो? अन्ततः तो वेदों का उत्पादक प्रभु परमात्मा ही परम पवित्र है। यदि उसका ध्यान, चिन्तन और अनुभूति ही हममें पावनता नहीं ला सकें तो फिर पावनता की प्राप्ति स्वप्न ही रहेगी। ■

[४१]

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाᳬं सत्ये प्रजापतिः॥ –यजुः० १९/७७

ऋषि–शंख, देवता–प्रजापति

नैतिकता, जिसमें सत्याचरण का उदात्त तत्त्व विद्यमान है, मनुष्य का सर्वोपरि गुण है। निश्चय ही, परमात्मा ने सत्य और असत्य के पार्थक्य को स्वसामर्थ्य से परिभाषित कर दिया है। सत्य के प्रति मानव का सहज आकर्षण होता है। झूठ बोलने के लिए तो मनुष्य को प्रयास करना पड़ता है। सत्य की महिमा वेद तथा अन्य आर्ष शास्त्रों में हजारों प्रकार से वर्णित हुई है। उपनिषदों का स्पष्ट उद्घोष है–सत्य की ही विजय होती है, अनृत की नहीं। स्मृतिकारों ने सत्य से बढ़कर कोई अन्य धर्म स्वीकार नहीं किया और न झूठ से बढ़कर कोई अन्य अधर्म ठहराया। मनु ने जहाँ धर्म के दस लक्षण गिनाए, वहाँ सत्य को भी उनमें स्थान मिला है। इसी प्रकार योगदर्शनकार पतंजलि ने अष्टांगयोग का प्रवचन करते समय अहिंसा के बाद सत्य को ही स्थान दिया है।

मनुष्य के लिए सत्य क्यों ग्राह्य है और मिथ्या के प्रति उसमें सहज विरक्ति क्यों होती है? इसका स्पष्ट उत्तर हमें उपर्युक्त मन्त्र की द्वितीय पंक्ति से मिलता है जिसमें कहा गया है कि प्रजापति ने अनृत=मिथ्या के प्रति हमारे हृदय में सहज अश्रद्धा और सत्य के प्रति सहज अनुराग उत्पन्न किया है। सत्य का मार्ग अत्यन्त ऋजु है, जबकि अनृत का मार्ग अनेक वक्रताओं को लेकर चलता है। क्यों नहीं मनुष्य उसी सत्य का अनुसरण करे जिसके प्रति परमपिता ने हमारे हृदय में सहज श्रद्धा उत्पन्न की है!

[४२]

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥ –यजुः० २०/२५

ऋषि–आश्वतराश्वि, देवता–अग्नि

वैदिक चिन्तन में ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति दोनों को समान महत्त्व दिया है। संसार में मनुष्यों की चिन्तन-प्रवृत्ति और कर्म-प्रवृत्ति स्पष्टतः पृथक् रूप में परिलक्षित होती हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने ज्ञान और चिन्तन को प्रवृद्ध कर मानवजाति का हित-साधन करते हैं, जब कि कुछ अन्य अपने भुजबल के द्वारा समाज का संरक्षण करते हैं तथा उसको व्यवस्थित रूप में संचालित करते हैं। आगे चलकर चिन्तन और कर्म के आधार पर ही ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण की कल्पना की गई। समाज के सुव्यवस्थित संचालन में इन दोनों की भूमिका निर्विवाद है। वेद का स्पष्ट आदेश है कि ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति का सन्तुलित, समन्वित और एक-दूसरे की सहयोगी शक्ति के रूप में ही विकास होना चाहिए। वैदिक जीवन-मीमांसा को अपनानेवाले, भारत में ब्राह्म और क्षात्र आदर्शों को अपने जीवन में उतारनेवाले महापुरुषों की एक सुनिश्चित परम्परा रही है। वसिष्ठ, वामदेव आदि ऋषि-मुनि, गोतम, कपिल, कणाद आदि दार्शनिक, वाल्मीकि और व्यास जैसे काव्य-इतिहास-निर्माता, शंकर तथा दयानन्द जैसे धर्मोपदेष्टा हमारी ब्राह्मण-संस्कृति के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार राम और कृष्ण जैसे आदर्श पुरुष, चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त जैसे साम्राज्य-निर्माता, प्रताप, शिवाजी और दुर्गादास जैसे राष्ट्र-रक्षक महापुरुष हमारी उत्कृष्ट क्षात्र-परम्परा के प्रतिनिधि हैं।

ब्रह्म और क्षत्र शक्तियों के समन्वित प्रयास को अन्य देवताओं–श्रेष्ठ पुरुषों का भी सहयोग मिलना चाहिए। इसलिए वेदमन्त्र की द्वितीय पंक्ति में स्पष्ट कहा गया है कि जिस देश में देवता लोग यज्ञ-कर्मों की प्रतीक अग्नि का सहयोग करते हैं, वही लोक पुण्य एवं प्रज्ञावाला होता है। देवता और यज्ञ

का अनिवार्य सम्बन्ध है। देवताओं की तृप्ति के लिए ही यज्ञकर्म सम्पादित किया जाता है। ऋषि दयानन्द ने देवता का अर्थ निपुण शिल्पी भी किया है। शिल्पियों के सभी कर्म अग्नि की अपेक्षा रखते हैं। अग्नि-तत्त्व को सम्यक् जानकर ही विविध प्रकार की अभियांत्रिकी सिद्धियाँ प्राप्त की जाती हैं। इस प्रकार ब्रह्म, क्षत्र और देव-इन त्रिविध शक्तियों के पारस्परिक मेल-मिलाप और सहयोग से इस लोक को पुण्यवान् और मेधावान् बनाया जा सकता है। ■

[४३]

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम्।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः॥

—यजुः० २०/५०

ऋषि-गर्ग, देवता-इन्द्र

विभिन्न नामों से पुकारा जानेवाला इन्द्र परमात्मा हमारे लिए सर्वोपरि स्तुत्य तथा वंदनीय है। वह इन्द्र मघवा है, नाना ऐश्वर्यों का स्वामी तथा भक्तों को प्रभूत वैभव देनेवाला है। वह हम सब का त्राता, रक्षक है; दुःखों, कष्टों और अभिशापों से बचने के लिए हम उसी इन्द्र को पुकारते हैं। वह हमारे मंगल और कल्याण का विधायक है। हम प्रत्येक यज्ञ-कर्म में उसे ही आहूत करते हैं जिससे कि हमारे ये यज्ञ सफल हों। वस्तुतः वही एक देव है जो हम भक्तों, उपासकों तथा प्रणत जनों के द्वारा प्रार्थनीय है। इन्द्र का एक नाम शक्र है। वह समर्थ है, शक्तिशाली है, प्रचण्ड बल का स्वामी है तथा हमारे दुःखों का विनाशक है। वेदों ने उसे पुरुहूत कहा है। विद्वानों, ऋषियों तथा मनीषियों द्वारा वह अनेक प्रकार से प्रशंसित है। ऐसे सर्वसामर्थ्ययुक्त महान् इन्द्र से हम अपने कल्याण की याचना करते हैं। वह हमें स्वस्ति, सर्वविध कल्याण तथा मंगल प्राप्त कराए।

■

[४४]

पा॒व॒का न॒: सर॑स्वती॒ वाजे॑भिर्वा॒जिनी॑वती।
य॒ज्ञं व॑ष्टु धि॒याव॑सुः॥ —यजु:० २०/८४

ऋषि—मधुच्छन्दाः, देवता—सरस्वती

ऋषि दयानन्द ने सरस्वती को परमात्मा के अनेक नामों में एक नाम माना है। **'सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्या चित्तौ सा सरस्वती'**—जिसको विविध विज्ञान अर्थात् शब्द-अर्थ के सम्बन्ध और प्रयोग का ज्ञान यथावत् हो, उस परमेश्वर को सरस्वती कहा जाता है। प्रस्तुत मन्त्र का देवता सरस्वती ही है जो ज्ञानाधार परमेश्वर का वाचक है। यह वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती (परमात्मा में स्त्रीलिंग, पुंल्लिंग आदि का भेद नहीं होता) हमें पवित्र करनेवाली है। वह हमारी बुद्धियों के समीप रहकर उन्हें परिष्कृत करती है। वह नाना बलों से युक्त होने के कारण वाजिनीवती (बलशालिनी) भी है। शारीरिक बल की तुलना में वाणी का बल महत्तर है, इसे सभी स्वीकार करेंगे। ऐसे वाचिक बल की प्रदाता सरस्वती हमारे यज्ञ को प्रशस्त करे, उसे सफल बनाए। उत्तम वाणी बोलना, सभाओं और संसदों में ओजस्वी-तेजस्वी वाणी बोलकर सभासदों को प्रभावित करना, विद्वत्-परिषदों में अस्खलित वाग्धारा के प्रवाह द्वारा श्रोतृ-समुदाय को चमत्कृत करना वाणी का यज्ञ है। इस वाचिक यज्ञ की सफलता के लिए हम सरस्वती देवी (परमात्मा) का आह्वान करें तो यह सर्वथा उचित ही है।

■

[४५]

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती॥ —यजुः० २०/८५

ऋषि—मधुच्छन्दाः, देवता—सरस्वती

आज का मनुष्य भौतिक ऐश्वर्य देनेवाली लक्ष्मी की आराधना तो करता है, किन्तु विद्या की अधिष्ठात्री सरस्वती की आराधना से वह विमुख है। वेद के इस मन्त्र में देवी सरस्वती को उत्तम भावनाओं की प्रेरक कहा गया है। मनुष्य जैसा सोचता है, विचारता है, जैसी भावनाएँ मन में लाता है, वैसा ही बन जाता है। तब क्यों न हम अपने मानसिक भावों को पवित्र, उदात्त तथा ऊर्ध्वगामी बनाएँ? इसके लिए हमें देवी सरस्वती की आराधना करनी होगी, क्योंकि वही हमारी उत्तम भावनाओं को उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करानेवाली प्रेरणादात्री है। हममें जो सुमतियाँ समय-समय पर जागृत होती हैं उन्हें अधिक चेतानेवाली, प्रवृद्ध और उल्लसित करनेवाली देवी भी वह सरस्वती ही है। मनुष्य की मनोभावना तथा उसकी बुद्धि को सत्कर्मों तथा सन्मार्गों में प्रवृत्त करनेवाली सरस्वती का हम आह्वान करें जिससे वह हमारे वाचिक गुणों को प्रशस्त करे। वाणी द्वारा किए जानेवाले प्रशस्त यज्ञों को धारण करने तथा बढ़ानेवाली यह सरस्वती ही है। प्रशस्त, लोकहित की भावना से युक्त, सत्य से परिपूर्ण वाणी को बोलना ही वाग्यज्ञ है और इसकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती ही है।

[४६]

म॒हो॑ऽअर्ण॒ः सर॑स्वती॒ प्र चे॑तयति के॒तुना॑।
धियो॒ विश्वा॒ वि रा॑जति॥ —यजुः० २०/८६

ऋषि—मधुच्छन्दाः, देवता—सरस्वती

अपार विद्यावाले को विद्या का समुद्र कहते हैं। अगाध ज्ञानवाले को ज्ञान का सागर कहते हैं। जब एक साधारण विद्या-वैभवयुक्त व्यक्ति को विद्या का सागर कहने में हमें संकोच नहीं होता तो भला समस्त ज्ञान-विज्ञान की दात्री सरस्वती देवी (परमात्मा) को महान् समुद्र से उपमित करने में क्या अनौचित्य है? वह सरस्वती तो विद्या, बुद्धि, वाग्मिता, ज्ञान-विज्ञान का लहराता हुआ, प्रचण्ड वीचियों से युक्त महा-अर्णव (सागर) ही है। अहा! कितनी उदार, दयालु तथा कृपालु है यह सरस्वती देवी जो अपने विज्ञान से अपने उपासक जनों को संज्ञानयुक्त करती है, उन्हें सचेत तथा मेधावी बनाती है। वही तो हमारी समस्त बुद्धियों को प्रकाशित करनेवाली है। धी, मेधा, प्रज्ञा, बुद्धि के ही विभिन्न नाम हैं। वेदों में मनुष्य को मेधावी तथा प्रज्ञावान् बनने की प्रेरणा दी गई है ताकि वह अपनी बुद्धियों को विकसित करे, प्रशस्त करे तथा उन्हें ही अपनी मार्गदर्शिका बनाए। किन्तु यह कार्य तभी सम्भव है जब वह सरस्वती का उपासक बने। सागर की भाँति बुद्धि और प्रज्ञा की हिलोरें लेनेवाली विद्या की अधिष्ठात्री सरस्वती ही मनुष्य को प्रबुद्ध, सचेत तथा प्रज्ञायुक्त बनाती है। उसकी कृपा से ही हमारी बुद्धियाँ प्रकाशित होती हैं।

■

[४७]

इ॒मं मे॑ वरुण श्रुधी हव॑म॒द्या च॑ मृडय।
त्वाम॑व॒स्युरा च॑के॥ —यजुः० २१/१

ऋषि—शुनःशेप, देवता—वरुण

शुनःशेप ऋषि ने वरणीय प्रभु की वंदना करते हुए इस मन्त्र का गान किया था। वेदों में वरुण नाम भी परमात्मा का ही बताया गया है जबकि पौराणिक काल में यह नाम जल के अधीश एक देवता-विशेष के लिए प्रयुक्त हो गया। वरुण वरणीय है, भक्तजनों द्वारा आराध्य तथा स्वीकार करने योग्य है। वह राजा है, विश्व-ब्रह्माण्ड में अपनी अलौकिक सत्ता तथा तेज से विराजमान है। वह न्यायशील शासक है जिसका कठोर कालदण्ड अपराधी, पापी और अन्यायी पर गिरता है। वह अपने पाशों से पापियों को बिद्ध कर देता है। भक्त उसी असीम करुणा-वरुणालय वरुणदेव को सम्बोधन कर कहता है—हे परम देव, तू हमारी प्रार्थना को सुन। हम अत्यन्त करुण स्वर में तुझे पुकार रहे हैं। तू हमारी रक्षा कर। इसमें किंचित् मात्र भी विलम्ब होना हम उपासकों के लिए हितकर नहीं है। परमात्मा भक्त के स्तवन और उसकी विनय को तभी सुनेगा जब उसमें सचाई और हार्दिकता होगी। पाखण्डपूर्ण प्रार्थना और दिखावे की उपासना की ओर परमात्मा किञ्चित् मात्र भी ध्यान नहीं देता। हम वरुण की कामना करते हैं, उसको चाहते हैं, उससे याचना करते हैं, इसलिए कि वह हमारा रक्षक है, हितेच्छु है, शुभचिन्तक है। परमात्मा की स्तुति गाने में हम विलम्ब न करें। वह सब तो आज से ही आरम्भ करना है। उसकी कृपा भी सद्यः उपलब्ध होगी।

■

[४८]

हिर॑ण्यपाणिमू॒तये॑ सवि॒तार॒मुप॑ ह्वये।
स चेत्ता॑ दे॒वता॑ प॒दम्॥ —यजुः० २२/१०

ऋषि—मेधातिथि, देवता—सविता

मनुष्य के लिए कौन-सा देवता, दिव्य गुणोंवाली सत्ता उपास्य है? इस प्रश्न का उत्तर यजुर्वेद के इस मन्त्र ने दिया है। यहाँ कहा गया है कि सविता—सकल ऐश्वर्यों को देनेवाला, सूर्य-चन्द्रादि दिव्य पदार्थों को बनानेवाला परमात्मा ही हमारा एकमात्र आराध्य और उपासनीय है। वेद में सविता देवता से सम्बन्धित अनेक मन्त्र हैं। प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र भी सविता के वरण करने योग्य तेज को धारण करने का उपदेश देता है जो मनुष्यों की बुद्धियों को सत्कर्मों में प्रेरित करता है। महर्षि दयानन्द का अत्यन्त प्रिय मन्त्र 'विश्वानि देव' भी सविता देव से दुर्गुणों को दूर करने तथा भद्र पदार्थों को प्रदान करने की प्रार्थना ही है। प्रस्तुत मन्त्र में सविता को 'हिरण्यपाणि' कहा गया है। सामान्यतया हिरण्यपाणि का अर्थ सोने के हाथोंवाला होता है। ऋषि दयानन्द ने इस पद का अर्थ करते हुए लिखा है—"स्वर्ण के तुल्य. सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थ भी जिसका स्तवन करते हैं, वह परमात्मा हिरण्यपाणि है। ऐसे तेजस्वी सवितादेव को मन्त्र 'चेत्ता' कहकर पुकारता है। वह परम चेतन परमात्मा यथार्थ में सम्यक् ज्ञानयुक्त होने से सत्यासत्य का विवेचक है। ऐसे चेतन-स्वरूप, सकल ऐश्वर्य के उत्पादक तथा प्रदाता सवितादेव को हम अपनी रक्षा के लिए पुकारते हैं।" मन्त्र के भावार्थ में ऋषि दयानन्द स्पष्ट करते हैं कि उस चेतन परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य जड़ पदार्थ की उपासना मनुष्य के लिए कदापि आचरणीय नहीं है। सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त परमात्मा ही हमारा आराध्य, उपास्य तथा एकमात्र सेव्य है।

■

[४९]

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वा-नाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामेनिकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽ ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।।

—यजुः० २२/२२

ऋषि—प्रजापति, देवता—लिंगोक्ताः

राष्ट्रोत्थान के लिए एक राष्ट्रप्रेमी नागरिक की परमात्मा से कैसी प्रार्थना होनी चाहिए, यही इस मन्त्र का अभिप्रेत है। सर्वप्रथम हमारी यह कामना है कि हमारे इस राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस्व को धारण करनेवाले ब्राह्मण होवें। वैदिक सामाजिक अवधारणा में ब्राह्मण की स्थिति जन्माधारित नहीं, अपितु व्यक्ति के ब्राह्मणोचित गुण, कर्म, स्वभाव, आचार-व्यवहार तथा उसके तत्सदृश विचारों से स्वीकार की गई है। वह हमारे समाज का मस्तिष्क-स्थानीय है। वह समाज का मार्गदर्शक है, इसलिए उसे अग्नि के तुल्य अग्रगन्ता तथा अग्रजन्मा कहा गया है। वह जो कुछ सोचता है, करता है, वह सब सामाजिक हित की दृष्टि से ही करता है। उसने स्वयं के ज्ञानोपार्जन, त्याग, तप, तितिक्षा आदि गुणों से जो कुछ प्राप्त किया है, वह स्वयं के लिए न होकर अन्य के हित तथा उनकी वृद्धि के लिए ही है। उसे अपने कर्त्तव्य-पालन तथा सार्वजनिक हित-सम्पादन के बदले में किसी प्रकार के मान-सम्मान की भी इच्छा नहीं होती। इसके विपरीत वह तो चाहता है कि उसके कार्यों का तथ्यात्मक मूल्यांकन करने में अक्षम लोग यदि अपनी अज्ञानता के कारण उसका अपमान भी करें तो वह उसे अमृत के तुल्य ग्रहण कर ले, क्योंकि कभी-कभी समाज से मिला सम्मान भी व्यक्ति में अहंकार का भाव उत्पन्न कर उसे कर्त्तव्यच्युत कर देता है। इसी अभिप्राय को

ध्यान में रखकर स्मृतिकार मनु ने कहा था–

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेद् विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेद् अवमानस्य सर्वदा॥

ऐसे मानत्यागी तथा अपमान को ही अमृततुल्य माननेवाले ब्रह्मवर्चस्-युक्त ब्राह्मणों का भारत में सदा आदर रहा है। गोतम, कपिल, कणाद, व्यास, जैमिनि और वसिष्ठ की ही परम्परा में शंकर, दयानन्द आदि ब्रह्मतेज के धनी ब्राह्मण आते हैं जिन्होंने अपनी अद्भुत देन से मानव-समाज को कृतकृत्य किया है।

ब्राह्मण की ही भाँति अस्त्रशस्त्र-संचालन में कुशल, नीतिनिपुण, राष्ट्र की सर्वविध रक्षा करने में समर्थ, प्रजाहित के लिए स्वयं को समर्पित करनेवाले राजन्य-वर्ग की भी हम कामना करते हैं। वस्तुतः ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति का सम्यक् नियोजन, सामञ्जस्य तथा एक-दूसरे के पूरक बनकर राष्ट्रसंवर्धन में सहभागी बननेवाले ब्राह्मण और क्षत्रिय हमें सदा ही काम्य हैं। हम अपने राष्ट्र के संचालन में उनकी सहायता और मार्गदर्शन के आकांक्षी हैं। प्रजाजनों की पीड़ा को हरनेवाले, उनके क्षतों (घावों) को भरनेवाले सच्चे क्षत्रिय वैदिक संस्कृति की रीढ़ के तुल्य हैं। राम और कृष्ण, युधिष्ठिर और अर्जुन, विक्रमादित्य और समुद्रगुप्त, प्रताप और शिवा, गुरु गोविन्द और दुर्गादास, इन सभी पुराकालीन और मध्यकालीन वीरों ने अपने क्षत्रियोचित आदर्शों को चरितार्थ किया है। ये क्षत्रिय वीर युद्ध-विद्या में कुशल, रणांगण में शत्रु के दलन में समर्थ महारथी थे। इनके कुशल नेतृत्व और संगठन-क्षमता के परिणामस्वरूप हमारी आर्य सेनाओं ने सदा ही विजय पाई है।

सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति में गाय, बैल, घोड़े आदि ग्राम्य पशुओं के महत्त्व को समझना भी आवश्यक है। गाय और घोड़े आदि पशु तो मनुष्य-समाज के साथ अनिवार्य रूप से जुड़े रहे हैं। इसलिए प्रस्तुत मन्त्र में यह कामना व्यक्त की गई है कि बहुत दूध देनेवाली गौवें हमारे राष्ट्र में प्रचुर संख्या

में हों। वैदिक साहित्य में गाय की महिमा का सर्वत्र गायन हुआ है। अथर्ववेद में गाय को रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री तथा आदित्यों की बहिन कहकर वर्णित किया गया है। उसे अदिति–अखण्डनीया तथा अघन्या–न मारी जानेवाली बताया गया है। यजुर्वेद में कहा गया है–**गोस्तु मात्रा न विद्यते।** अन्यत्र **गावो विश्वस्य मातरः** कहकर गाय को सबकी माता कहा गया है। ऋषि दयानन्द ने गाय के आर्थिक लाभ को अंकित करते हुए गोकरुणानिधि जैसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। अतः मन्त्र में दूध देनेवाली गौवों की कामना की गई। बहुत बोझा ढोने में समर्थ बैलों और आशुगामी अश्वों की उपयोगिता भी निर्विवाद है।

वैदिक संस्कृति में पुरुष और स्त्री को तुल्य माना गया है। नारी की महत्ता का शास्त्रों में सर्वत्र प्रतिपादन किया गया है, अतः सन्नारियों, वीरप्रसू क्षत्राणियों तथा देशहित के लिए सर्वस्व त्याग करनेवाली महिलाओं से ही किसी राष्ट्र के अभ्युदय की सम्भावना की जाती है। मंध्यकाल के ग्रन्थों में भले ही नारी को तिरस्कार अथवा हीन दृष्टि से देखा गया, किन्तु अत्यन्त पुराकालीन आर्य संभ्यता में उसे गौरवपूर्ण स्थान मिला था। आर्यावर्त की नारी को उसके विगत गौरव तथा लुप्त प्रतिष्ठा को दिलाने में सबसे अधिक योगदान ऋषि दयानन्द ने किया, जिन्होंने अपने ग्रन्थों में यत्र–तत्र गार्गी और मैत्रेयी जैसी उपनिषत्कालीन ब्रह्मवादिनी नारियों की चर्चा कर नारी को सम्मानित स्थान देने की प्रेरणा की। मन्त्र में भी ऐसी ही सती स्त्रियों से राष्ट्र की अभिवृद्धि होने की बात कही गई है।

यहाँ यजमान के जिस युवा और वीर पुत्र का उल्लेख है वह केवल यज्ञकर्त्ता यजमान का पुत्र ही नहीं है, किन्तु राष्ट्र के निर्माणरूपी यज्ञ का प्रत्येक नागरिक ही वह यजमान है और उसके जयशील पुत्र के द्वारा राष्ट्र की सर्वांगीण अभिवृद्धि तथा विकास की बात कही गई है। राष्ट्र की भावी समृद्धि और उसका विकास तो युवा पीढ़ी पर ही निर्भर है। अतः

कठिनाइयों पर विजय पानेवाले, सर्वत्र अपनी जयपताका फहरानेवाले राष्ट्र के वीर युवाओं से यह देश भरा रहे, यह कामना सर्वथा उचित ही है।

प्रकृति का यदि हमारे राष्ट्र पर सदा वरद हस्त रहे तो यह सोने में सुगन्ध-तुल्य होगा। सर्वप्रथम प्रकृति का प्रसाद हमें उस पर्जन्य-वृष्टि के द्वारा प्राप्त होता है, जब पावसकाल में काली-काली मेघमालाओं से आकाश आच्छादित हो जाता है और पानी की ये नन्हीं-नन्हीं बूँदें धरती पर गिरकर सस्य-श्यामला धरती को अन्न से परिपूर्ण कर देती हैं। मन्त्रद्रष्टा कवि ने इसीलिए समय-समय उचित अवसर पर उचित मात्रा में वर्षा होने को राष्ट्र के लिए वरदान-तुल्य बताया है। गीता ने पर्जन्य-वृष्टि से अन्नोत्पादन और अन्नों से प्राणि-सृष्टि का अभिवर्द्धन बताया है। ये मेघ जहाँ अन्न पैदा करते हैं, वहाँ उनसे नाना फलदायिनी, नाना रोगों के निवारण में समर्थ ओषधियाँ भी उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति, गौ, बैल और अश्व आदि उपयोगी पशु, सन्नारियों से युक्त गृहस्थ, वीर और युवा नागरिक तथा निसर्ग के सहज वरदान-तुल्य मेघ तथा ओषधियाँ, इन सब के द्वारा मनुष्य के योग और क्षेम की सिद्धि होती है। यह योग और क्षेम—पारलौकिक उन्नति और सांसारिक अभिवृद्धि ही मनुष्य की एकान्त कामना है। राष्ट्र के सर्वांगीण उत्थान का यही आदर्श है। इसीलिए गीता के प्रवक्ता कृष्ण ने कहा कि जो लोग अनन्यचित्त होकर प्रभु की उपासना करते हैं तथा स्वयं को उसके समक्ष समर्पित कर देते हैं, उनके योग और क्षेम की चिन्ता तो स्वयं ईश्वर ही करता है। यह योग और क्षेम समष्टि राष्ट्र की ही भाँति व्यक्ति का भी लक्ष्य होना चाहिए!

■

[५०]

य: प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽइद्राजा जगतो बभूव।
यऽईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
—यजु:० २३/३, २५/११

ऋषि—प्रजापति, देवता—परमेश्वरः

प्रस्तुत मन्त्र में परमात्मा को राजा कहकर सम्बोधित किया गया है। प्रजा का रंजन करने से ही राजा की सार्थकता है। सांसारिक राजा तो एक सीमित भूभाग का शासन करते हैं। फिर ये राजा कभी-कभी स्वेच्छाचारी होकर अपनी प्रजा का किस प्रकार दमन करते हैं और निर्दोष लोगों पर अत्याचार करने लगते हैं, इसके अनेक दृष्टान्त हमें इतिहास में सर्वत्र मिलते हैं। परन्तु परमात्मा की शासन-क्षमता कुछ भिन्न प्रकार की है। उसका शासन जहाँ समस्त ब्रह्माण्ड के प्राणधारियों पर दिखाई पड़ता है, वहाँ प्राणरहित जड़ पदार्थ भी उसी परमात्मा के अनुशासन को स्वीकार करते हैं। प्राय: देखा जाता है कि शक्तिसम्पन्न लोगों ने अपने पाशविक-शारीरिक बल से ही संसार के विभिन्न भागों को अपने अधिकार में ले लिया। किन्तु उनका यह राज्य अस्थायी रहा। उनसे अधिक शक्तिशाली लोगों ने स्वप्रभाव से अपने पूर्ववर्तियों को अधिकारच्युत कर दिया। स्पष्ट है कि भौतिक बल की अपनी सीमा होती है।

इसके विपरीत परमात्मा का यह शासन उसकी स्वमहिमा पर ही आधारित है। जड़ प्रकृति को गति देकर सृष्टिरूप में उसे लानेवाला तथा चेतन प्राणियों को स्व-स्व कर्मों में प्रेरित करनेवाला ईश्वर अपने स्वभाव से ही इस ब्रह्माण्ड का स्वामी बना हुआ है। 'बभूव' यद्यपि भूतकालीन क्रिया है किन्तु वैदिक व्याकरण के नियमानुसार यह सर्वकालों में प्रयुक्त मानी जाती है। परमात्मा विगत में भी संसार का स्वमहिमा से एकमात्र राजा था, वह आज भी है और आगे भी रहेगा।

संसार में रहनेवाले प्राणी-श्वसनशील जीव दो प्रकार के

हैं। मनुष्य संज्ञाधारी द्विपद हैं तो गाय, बैल, घोड़े आदि पशु चतुष्पद हैं। इन सभी प्राणियों का अधिष्ठाता, उनको स्वकर्मों में नियोजित करनेवाला, उन पर शासन करनेवाला वह परमात्मा ही हमारी स्तुति, प्रार्थना, उपासना और आराधना का अधिकारी है। वह परमात्मा सुखस्वरूप है, स्वयं आनन्दमय होने से जीवों को भी आनन्द और सुख देनेवाला है। वही हमारी भक्ति और श्रद्धा का अधिकारी है। ■

[५१]

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम्॥

—यजुः० २३/६५

ऋषि—प्रजापति, देवता—ईश्वर

सम्पूर्ण विश्व का निर्माता परमात्मा ही प्रजापति है। उसी ने संसार में विद्यमान प्राणियों को जीवन प्रदान किया तथा वही अचर=जड़ पदार्थों का भी निर्माता तथा धारक है। इस प्रकार अखिल ब्रह्माण्ड में निवास करनेवाली सम्पूर्ण प्रजाओं का स्वामी होने के कारण परमात्मा को प्रजापति कहकर पुकारना सर्वथा उचित है। भला ईश्वर के अतिरिक्त और कौन-सी अन्य शक्ति है जो इस उत्पन्न हुए जगत् को अधिव्याप्त कर सकती है? जीवात्मा अल्पज्ञ तथा अल्पशक्ति तो है ही, वह एकस्थानीय भी है, जब कि प्रजापति सर्वज्ञ, सर्वसामर्थ्ययुक्त तथा सर्वत्र व्याप्त है।

अल्पशक्तिवाले से माँगना तथा याचना करना निरर्थक है। जो कुछ हम माँगें, उसी परमदानी ईश्वर से ही माँगें, क्योंकि वही हमारी कामनाओं को पूरा करने में समर्थ है; किन्तु परमात्मा से प्रार्थना करना तभी सार्थक होता है, जब पहले हम अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ से स्व-लक्ष्य को पूरा करने का सर्व सामर्थ्य से प्रयास करें। अंग्रेजी की कहावत है--

God helps those who help themselves.

स्वयं पुरुषार्थ करनेवाले की ही ईश्वर सहायता करता है। प्रजापति की अनुकम्पा से ही हम भौतिक धन-ऐश्वर्यों तथा आध्यात्मिक सुखों को प्राप्त करते हैं। मन्त्र में प्रयुक्त 'रयि' अभ्युदय (सांसारिक उन्नति) तथा निःश्रेयस् (मोक्ष पद) का वाचक है। अतः परमात्मा से हमारी याचनाएँ द्विविध प्रकार की होती हैं—वह हमारी लौकिक कामनाओं को तो पूरा करता ही है, हमें पारलौकिक सुख भी देता है। ■

[५२]

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रः रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—यजुः० २५/१२

ऋषि—प्रजापति, देवता—ईश्वर

प्रायः ईश्वर के विषय में शंका करनेवाले पूछते हैं कि हम उस पराशक्ति के अस्तित्व में कैसे विश्वास लाएँ? उसकी सत्ता को सिद्ध करने के लिए कौन-से प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं? बहुत वर्ष हुए प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य ने ईश्वसिद्धि में अपना विख्यात ग्रन्थ कुसुमाञ्जलि लिखा था। इसकी प्रारम्भिक कारिकाओं में परमात्मा की सिद्धि में उक्त दार्शनिक विद्वान् ने अनेक प्रमाण दिए हैं। उसका प्रमुख मन्तव्य तो यही है कि यह समस्त विश्व ही उसके रचयिता की साक्षी दे रहा है। प्रकृति का यह अपूर्व दृश्यात्मक सौन्दर्य क्या सृष्टि के कर्त्ता का सबसे पुष्ट प्रमाण नहीं है? प्रस्तुत मन्त्र भी दृश्यमान प्राकृतिक दृश्यों का उल्लेख कर परमात्मा को उनका निर्माता तथा विधाता बता रहा है।

ये ऊँचे-ऊँचे हिमशृंगयुक्त पर्वत उस परम महिमाशाली परमात्मा की ही महिमा का गान कर रहे हैं। अनन्त जल का भण्डार सागर और उसकी ओर प्रवाहित होनेवाली नदियाँ भी उसी परमेश्वर का स्तवन और वन्दन कर रही हैं। जिस ओर भी हमारी दृष्टि जाती है, दिशाओं का निस्सीम विस्तार हमें

दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो परमात्मा ने अपनी विशाल भुजाओं को ही इन दिशाओं के रूप में फैला लिया है। ईश्वर की इस दिव्य सृष्टि को देखकर ही हम उसकी महिमा का अनुभव करते हैं और उस परम सुखदायक परमात्मा के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धा समर्पित करते हैं। ■

[५३]

यऽ आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ऽ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः।
यस्य॑च्छा॒याऽमृ॒तं यस्य॑ मृत्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥

—यजुः० २५/१३

ऋषि—प्रजापति, देवता—परमात्मा

प्रजापति परमात्मा ही हमें सब प्रकार के बल प्रदान करनेवाला है। मनुष्य को शारीरिक बल की ही भाँति आत्मिक और सामाजिक बल की भी आवश्यकता होती है। शरीर और उसका स्वास्थ्य मनुष्य के लिए प्रकृति का एक अपूर्व वरदान है। शरीर से ही सभी प्रकार के लोकोपकार के कार्य किए जाते हैं। महाकवि कालिदास ने शरीर को ही धर्म का प्रथम साधन कहा है—**'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'**। नीतिकार ने बलवान् शरीर को दुर्बल जनों की रक्षा में प्रयुक्त करने का आदेश दिया है, किन्तु शरीर के बल से भी आत्मिक बल का अधिक महत्त्व है। संसार के महापुरुषों ने जितने उत्कृष्ट और श्रेष्ठ कृत्य किये, उनके पीछे उनको आत्मिक बल का ही सम्बल था। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शंकर, दयानन्द आदि ने अपनी आत्मा का समग्र उत्थान किया और इसी आत्मिक बल के सामर्थ्य से देश और समाज का उत्थान किया।

निश्चय ही व्यक्ति के लिए शरीर एवं आत्मा के बल का महत्त्व है, किन्तु समूचे समाज के लिए समष्टि बल की आवश्यकता होती है। सामाजिक समस्याओं का समाधान समग्र समाज को जागरूक और सशक्त बनाने से ही सम्भव है। स्वामी दयानन्द ने भारतीय समाज को सशक्त बनाने तथा

उसमें व्याप्त बुराइयों को दूर करने के लिए ही आर्यसमाज का संगठन किया। इस देश के लोगों में शरीर, मन तथा आत्मा का तो बल सदा से रहा, किन्तु सामाजिक ऐक्य तथा संगठन के अभाव में हम विगत अनेक शताब्दियों से दासता तथा पराधीनता के पाशों में बँधे रहे। अतः क्रान्तदर्शी महर्षि दयानन्द ने प्रस्तुत मन्त्र को प्रार्थनाक्रम में जोड़कर आराधक को शरीर के साथ आत्मा तथा समाज का बल उपार्जित करने की प्रेरणा दी।

मन्त्र आगे कहता है कि यह सारा संसार परमात्मा की ही उपासना करता है। मनुष्य में आस्था का भाव नैसर्गिक रूप से विद्यमान रहता है, किन्तु बहुत कम ऐसे व्यक्ति हैं जो अपने वास्तविक आराध्य और उपास्य को पहचानते हैं। वस्तुतः परमात्मदेव ही हमारी पूजा, उपासना और सम्मान के अधिकारी हैं। विचारशील विद्वान्‌गण भी उसी परमात्मा की महिमा का गायन करते हैं तथा उसकी आज्ञा एवं अनुशासन को स्वीकार करते हैं। निश्चय ही मनुष्य में यदि आस्तिकता के पवित्र भाव का उदय हो जाए तो वह सांसारिक दुःखों और विपत्तियों पर विजयी हो सकता है, क्योंकि परमात्मा की सुखद छाया ही मानव को अमरता प्रदान करती है तथा उसके ऐहिक और आमुष्मिक सुख–सौभाग्य की वृद्धि करती है। परमात्मा से दूर हटना, उसकी सत्ता में शंका करना तथा उसके प्रति अविश्वास रखना मनुष्य को मृत्यु के समीप ले जाता है। अन्यत्र भी वेद ने स्पष्ट किया है कि परमात्मा को जानकर ही जीव को जन्म–मरण के दुष्चक्र से छुटकारा मिलता है तथा वह मोक्षसुख को प्राप्त कर सकता है।

अतः परमात्मा को शरीर, आत्मा और समाज के बल का दाता मानकर और यह जानकर कि वह मनुष्य के लिए एकमात्र आराध्य और उपास्य है, हमारे लिए उचित है कि हम उस सुखदायक परमेश के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्तिरूपी हवि प्रदान करें।

■

[५४]

आ नो॑ भ॒द्राः क्रत॑वो यन्तु वि॒श्वतोऽद॑ब्धासो॒ऽअप॑रीतासऽउ॒द्भिदः॑।
दे॒वा नो॒ यथा॒ सद॒मिद् वृ॒धेऽअस॒न्नप्रा॑युवो रक्षि॒तारो॑ दि॒वेदि॑वे॥

—यजुः० २५/१४

ऋषि—प्रजापति, देवता—यज्ञ

वेदों की प्रार्थनाएँ, कामनाएँ तथा आकांक्षाएँ समष्टि हित को सर्वोपरि महत्त्व देती हैं। वेद में देव शब्द अनेकार्थवाची है। यहाँ विद्वान्, बुद्धिमान् एवं प्रज्ञाशाली पुरुषों को देव कह कर सम्बोधित किया गया है। उनसे उपासक की प्रार्थना इस प्रकार है—हे देवजनो, आप ऐसी कृपा करें जिससे कि हम पर चारों ओर से कल्याणकारी क्रतुओं—लोकहितकारी यज्ञों तथा प्रज्ञायुक्त कृत्यों की वर्षा हो। देवताओं अर्थात् बुद्धिमान् पुरुषों की कृपा तथा मार्गदर्शन से ही लोग नाना प्रकार के लोकोपकारक कृत्यों को सम्पादित करता है। हमारे ये क्रतु=यज्ञ सर्वथा अहिंसक, दिव्य, अनन्य तथा दुःखनाशक हों। ये देवगण नित्यप्रति हमारे रक्षक बनें, तथा सब ओर से कल्याणकारी, अविनाशी, दुःख-विनाशक यज्ञरूपी श्रेष्ठ कर्म हमें प्राप्त कराएँ। वस्तुतः समाज की रक्षा तथा उसकी उन्नति में विद्वान् देवगणों की ही सर्वोपरि भूमिका होती है। वे ही सामाजिक हित को प्राथमिकता देते हैं। अतः हम उनसे यह प्रार्थना करें कि वे सदैव हमारी वृद्धि तथा उन्नति में सहायक हों, प्रतिदिन हमारी रक्षा करें तथा प्रमादरहित एवं सावधान होकर हमारी सहायता करें। ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद-भाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"सब मनुष्यों को चाहिए कि वे परमेश्वर के विज्ञान को विद्वानों की संगति से प्राप्त करें तथा स्वयं को प्रज्ञावान् बनाएँ। इस प्रकार धर्म का आचरण करते हुए वे सर्वतोभाव से रक्षक बनें।"

■

[५५]

**देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाᳬं रातिरभि नो निवर्त्तताम्।
देवानाᳬं सख्यमुपसेदिमा वयं देवा नऽ आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥**

—यजुः० २५/१५

ऋषि—प्रजापति, देवता—विद्वांसः

वेद में देव और देवता शब्दों का प्रयोग विशिष्ट अभिप्राय से किया गया है। देव वे हैं जो सामान्य मनुष्य से उत्कृष्ट गुणों, कर्मों, चरित्र तथा ऊर्जा से युक्त हैं। मनुष्य के लिए देवत्व की प्राप्ति, देवता बनने तथा उनके जैसा ही जीवन जीना और आचरण करना श्रेयस्कर माना गया है। अतः प्रजापति ऋषि ने इस मन्त्र के रहस्य को बताते हुए कहा कि मनुष्यों के लिए देवी सुमति को प्राप्त करना ही हितकारक है। सामान्य बुद्धि तो परमात्मा ने सब को दी है, किन्तु परमात्मा की भक्ति और उपासना से देव-कोटि के मनुष्यों की बुद्धि में जो भद्रता, श्रेष्ठता और पावनता आ जाती है, वह हम सब के लिए भी काम्य होनी चाहिए। यह देवताओं की भद्र बुद्धि अत्यन्त ऋजु है। इसका अनुसरण करने से मनुष्य सत्पथगामी बनता है। उसके हृदय की कुटिलता दूर होती है। पुनः मन्त्र का आदेश है कि हम देवताओं में पाए जानेवाले विद्या आदि गुणों को सब प्रकार से सिद्ध करें और प्राप्त करें। निश्चय ही हम देवताओं की मैत्री प्राप्त करें। अपने से हीन जनों की मैत्री हमारे लिए अनर्थकारिणी होगी, अतः हम देवसखा बनें। इस प्रकार देवताओं द्वारा निर्दिष्ट पद्धति से जीवन बिताकर ही हम अपनी आयु को प्रभावशाली ढंग से बिता सकेंगे—समग्र जीवन जी सकेंगे।

[५६]

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥

—यजु:० २५/१८

ऋषि—गोतम, देवता—ईश्वर

उपासक परमात्मा के दिव्य गुणों का वर्णन करते हुए अपनी रक्षा के लिए उसे पुकारता है। हम उस संसार के स्वामी, स्थावर-जंगम के पति=पालन करनेवाले को अपनी रक्षा के लिए पुकारते हैं। उसकी स्तुति करना ही उसे पुकारना है। क्या परमात्मा से भिन्न कोई अन्य व्यक्ति या पदार्थ हमारी रक्षा करने में समर्थ है? वेद कहता है—नहीं। कारण स्पष्ट है। परमात्मा हमारी बुद्धियों को सन्मार्गगामी बनाता है। उनमें शुद्ध भावों तथा विचारों को भरकर उन्हें तृप्त करता है, अत: वह सर्वोपरि ईश्वर ही हमारी उपासना का पात्र है। वह परमात्मा पूषा है, पोषण करनेवाला है; नाना प्रकार के धनों का प्रदाता, हमारे ऐश्वर्य की वृद्धि करनेवाला है। सबका रक्षक तथा किसी को व्यर्थ पीड़ा न पहुँचानेवाला वह परमेश्वर ही कल्याण-कामना के लिए हमारे द्वारा आह्वान किया जाता है। वेद-मन्त्रों में स्वस्ति की कामना सर्वत्र मिलती है। स्वस्ति सुख, कल्याण तथा मंगल का वाचक है। मनुष्य को सच्चा सुख और कल्याण परमात्मा के द्वारा ही मिल सकता है। अल्प बुद्धि, अल्प सामर्थ्यवाले जीव, मनुष्य का स्थायी हित नहीं कर सकते। इसलिए वेद का कथन है कि हम उसी सर्वोत्कृष्ट, जड़-चेतन जगत् के स्वामी, बुद्धियों के प्रेरक को अपनी रक्षा और उन्नति के लिए पुकारें जो स्वयं सर्वरक्षक और पोषक होने के कारण हमारे लिए ऐश्वर्य प्रदान करे तथा हमारे सुखों की वृद्धि हो।

■

[५७]

स्वस्ति नऽ इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽअरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

—यजुः० २५/१९

ऋषि—गोतम, देवता—ईश्वर

वेदों में कल्याण-कामना के लिए की जानेवाली प्रार्थनाओं का बाहुल्य है। परमात्मा का नाना नामों से स्तवन किया जाता है, विभिन्न गुणवाचक नामों से उसे पुकारा जाता है। किन्तु यह स्तवन और प्रार्थना-उपासना भक्त अपनी हित-कामना, स्वस्ति के लिए ही करता है। प्रस्तुत मन्त्र में परमात्मा को इन्द्र, पूषा, अरिष्टनेमि तथा बृहस्पति, इन चार नामों से पुकारा गया है और इन नामोंवाले परमपिता से स्वस्ति=कल्याण की प्रार्थना की गई है। इन्द्र का विशेषण है वृद्धश्रवा—बहुत सुननेवाला, सबकी सुननेवाला, दीनों की पुकार को सुननेवाला परमात्मा ही इन्द्र है। उससे हम स्वस्ति की याचना करते हैं। सबका पोषण करनेवाला परमात्मा पूषा है और वह वेदज्ञान का उत्पादक तथा दाता होने से 'विश्ववेदा' कहलाता है। सुखों की प्राप्ति करानेवाला परमात्मा 'अरिष्टनेमि' पद से सम्बोधित किया गया है। परमात्मा से बढ़कर सुखप्रदाता संसार में अन्य कौन हो सकता है! परमात्मा का एक अन्य नाम बृहस्पति भी है। वाणी, बुद्धि और विमल प्रज्ञा का धनी बृहस्पति परमात्मा से भिन्न और कौन हो सकता है! इस प्रकार इन्द्र, बृहस्पति, पूषा और अरिष्टनेमि-संज्ञक नामों से पुकारे जानेवाले परमात्मा से हम मंगल, भद्र, कल्याण और स्वस्ति की याचना करें, यह सर्वथा उचित ही है।

■

[५८]

भ॒द्रं कर्णे॑भिः शृणुयाम देवा भ॒द्रं प॑श्येमा॒क्षभि॒र्यजत्राः।
स्थि॒रैरङ्गै॑स्तुष्टु॒वाᳬस॑स्त॒नूभि॒र्व्य॑शेमहि दे॒वहि॑तं॒ यदायुः॥
—यजुः० २५/२१

ऋषि—गोतम, देवता—विद्वांसः

वेदों ने मनुष्यों को यजनशील, परोपकार-परायण, सद् वृत्तिवाला कहा है। जो मात्र आत्महित में ही निरत रहता है, स्वार्थपूर्ति में ही लगा रहता है, वह कम-से-कम मनुष्य कहलाने का तो अधिकारी नहीं है। यज्ञ-कर्म करनेवाले, स्वहित को त्यागकर परहित में लगे, वैदिक जीवन व्यतीत करनेवाले यजनशील लोग देवताओं (विद्वानों) को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे देवो! आप ऐसी कृपा करें, हमारा इस प्रकार मार्गदर्शन करें, जिससे कि हम अपने कानों से सदा भद्रवचन, कल्याणी वाणी, सत्य का निश्चय करानेवाले कथन को ही सुनें। हम अपने नेत्रों से जो देखें, वह सब कल्याणयुक्त दृश्य ही हों। अभद्र, अश्लील, चरित्र-विनाशक दृश्य हमारे नेत्रों के समक्ष कभी न आवें। इस प्रकार हम अपने नेत्रों को पवित्र रखें। हमारे शरीर के सम्पूर्ण अवयव स्थिर, पुष्ट और दृढ़ हों, ताकि इन अंगों के द्वारा किया हुआ हमारा यजन, पूजन और स्तवन भी मंगलकारी हो। इस प्रकार नेत्र, कान आदि इन्द्रियों को सत्पथगामी बनाते हुए, दृढ़ांग होकर हम जब अपनी जीवनचर्या चलाएँगे तो देवताओं की अभीष्ट आयु प्राप्त करना हमारे लिए कदापि कष्टसाध्य नहीं होगा। हमारे जीवन का लक्ष्य और आदर्श देवताओं का-सा जीवन जीने का होना चाहिए। हमारी आयु भी देवताओं की भाँति लोकहितकारी हो। यह तभी सम्भव है जब हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को भद्र कार्यों में नियोजित करें। ■

[५९]

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याᳫं शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु॥२॥
—यजुः० २६/२

ऋषि–लौगाक्षिः, देवता–ईश्वरः

परमात्मा ने वेदवाणी का प्रवचन मनुष्यमात्र के लिए किया है। परमात्मा की यह दिव्य कल्याणी वाणी समग्र जन-समाज के लिए व्यक्त की गई है। जैसे परमात्मा ने मनुष्य के व्यापक हित को ध्यान में रखकर वेदवाणी को सभी मनुष्यों के लिए प्रकट किया है, उसी प्रकार हमारा भी यह कर्त्तव्य बन जाता है कि हम भी बिना किसी भेदभाव के, वेदों की इस सार्वजनीन शिक्षा को सभी मनुष्यों को उपलब्ध कराएँ। जहाँ ब्राह्मणों और क्षत्रियों को वेदविद्या पाने का अधिकार है, वहाँ वैश्यों और शूद्रों को भी इसे ग्रहण करने का उतना ही अधिकार है। मध्यकाल में वेदों के अध्ययन का अधिकार त्रिवर्णों के लिए ही सीमित कर दिया गया, जबकि परमात्मा की इस दिव्य तथा मंगलकारी वाणी को ग्रहण करने का अधिकार स्वयं ईश्वर ने मनुष्यमात्र को प्रदान किया है। वैश्य और शूद्र तो चातुर्वर्णिक आर्यसमाज में परिगणित होते ही हैं, वनों तथा गिरि-कन्दराओं में निवास करनेवाले वनवासी और गिरिजन भी वेद के ज्ञान को प्राप्त करने के अधिकारी हैं। वेद का सर्वजनों में प्रचार करनेवाला उपदेशक कामना करता है कि विद्वान् जनों को उचित दक्षिणा देकर मैं इस संसार में सर्वजनप्रिय बनूँ। मेरी कामनाएँ समृद्धि को प्राप्त करें तथा मुझे अलौकिक तथा पारलौकिक सुख सदा प्राप्त हो। ऋषि दयानन्द ने इसी यजुर्वेदीय मन्त्र के सत्यार्थ का दर्शन कर सभी वर्णों, वर्गों तथा जातियों के स्त्री-पुरुषों के लिए वेद के पठन-पाठन का अधिकार निरूपित किया। उनके इस क्रान्तिकारी उपदेश से वैदिक समाज में परिवर्तन आया और सन्नारियों तथा सभी वर्णों की वेदाध्ययन में प्रवृत्ति हुई। ■

[६०]

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒ताि॒नि परा॑ सुव।
यद्भ॒द्रन्तन्न॒ऽ आ सु॑व॥ —यजुः० ३०/३

ऋषि—नारायण, देवता—सविता

सविता देवतावाले इस मन्त्र का ऋषि नारायण है। यह मन्त्र ऋषि दयानन्द को अत्यन्त प्रिय था। यजुर्वेद-भाष्य में महाराज ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'हे उत्तम गुण, कर्म, स्वभावयुक्त, उत्तम गुण, कर्म, स्वभावों में प्रेरणा देनेवाले परमेश्वर, आप हमारे सब दुष्ट आचरण एवं दुःखों को दूर कीजिए और जो कल्याणकारी धर्मयुक्त आचरण व सुख है, उसे हमारे लिए अच्छे प्रकार उत्पन्न कीजिए।' स्वामीजी ने ईश्वरस्तुति-प्रार्थना-उपासना के लिए जिन आठ मन्त्रों रूपी माला का निर्माण किया, उसके सुमेरु-रूप में इस मन्त्र को प्रथम स्थान दिया। अपने वेदभाष्य के मंगलाचरण-रूप में (ऋग्वेद के प्रत्येक मण्डल तथा यजुर्वेद-भाष्य के प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में) इस मन्त्र को लिखा। मन्त्र में परमेश को सविता और देव इन दो नामों से स्मरण किया गया है। सविता सर्वोत्पादक, सृष्टि-रचयिता, दिव्य पदार्थों को उत्पन्न करनेवाला, नाना दिव्य गुणों, शक्तियों और कर्मों से युक्त है। ऐसे सर्वविश्व-रचयिता परमात्मदेव से भक्त की प्रार्थना है—"हे सविता देव, हमारे सम्पूर्ण दुर्गुणों, दुर्व्यसनों और दुःखों को दूर कीजिए और जो कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं, वे हमें प्राप्त कराइए।" जब तक मनुष्य अपनी बुराइयों रूपी दुरितों को दूर नहीं कर लेता, तब तक सद्‌गुणों का धारण करना भी सम्भव नहीं होता। मलिन वस्त्र को पहले साबुन द्वारा स्वच्छ किए बिना उस पर नया रंग नहीं चढ़ाया जाता।

इसीलिए मन्त्र में **'विश्वानि दुरितानि परासुव'** पहले आया और **'यद् भद्रं तन्न आसुव'** यह वाक्य बाद में कहा

गया। हम परम पिता से उपर्युक्त प्रार्थना क्यों करते हैं? बात यह है कि मनुष्य में एक विशिष्ट अहंकार होता है जिसे हम स्वयं को श्रेष्ठ समझने से उत्पन्न होनेवाला गर्व कहते हैं। प्रायः देखने में आता है कि विद्या से उत्पन्न अहंकार निरर्थक वाद-विवाद को जन्म देता है। अधिक धन से उत्पन्न गर्व व्यर्थ के मद को उत्पन्न करता है, जबकि निर्बाध और अनियंत्रित शक्ति परायों के उत्पीड़न का कारण बनती है। सच्ची विद्या से मनुष्य में विनय आना चाहिए–**विद्या ददाति विनयम्।**

यदि हमलोग प्रस्तुत मन्त्र में निहित भावना के अनुसार आचरण करें तो अपनी विद्वत्ता का उपयोग हम दूसरों को ज्ञान देने में करेंगे, अपने द्वारा अर्जित धन का सदुपयोग लोकहितार्थ दान करने में करेंगे तथा अपनी शारीरिक शक्ति का उपयोग दीन, निर्बल जनों की रक्षा में करेंगे। किन्तु इस प्रकार के उदात्त भाव हममें तभी जागृत होंगे, जब हम परमात्मा को श्रेष्ठ, सर्वोत्कृष्ट, दिव्य गुणों का भण्डार, सवितादेव समझकर उससे उपर्युक्त प्रकार की प्रार्थना करें।

इस मन्त्र का उच्चारण करते समय भक्त और साधक को यह विचारना चाहिए कि मैं किस बात में अपने को अन्यों से श्रेष्ठ समझूँ और अहंकार करूँ, जबकि मैं यह जानता हूँ कि परमपुरुष सविता ही दिव्य और श्रेष्ठ गुणों का भण्डार है और उसकी स्तुति करके हम भी अपने-आपको श्रेष्ठ और वरणीय बना सकते हैं।

■

[६१]

विभुक्तार॑ʼ हवामहे वसोॅश्चित्रस्य राधसः।
सुवितार॑ नृचक्षसम्॥ —यजुः० ३०/४

ऋषि—मेधातिथिः, देवता—सविता

संसार को उत्पन्न करनेवाले सविता परमात्मा की हम आराधना करते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं। मन्त्र में उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर के कुछ गुण तथा विशेषण बताए गए हैं। वह सविता देव कैसा है? प्रथम तो वह सब प्राणियों को उनके कर्मानुसार फलों का वितरण करनेवाला है। उसने संसार में मनुष्यों के लिए अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों को उत्पन्न तो किया ही है, वह उनका सम्यक् वितरण भी करता है। संसार में जितने अद्‌भुत, कमनीय तथा दिव्य पदार्थ हमें दिखाई देते हैं, वे सब परमात्मा द्वारा ही उत्पन्न किए गए हैं और इन्हें वही अपनी न्याय-व्यवस्था के अनुसार सबको यथायोग्य वितरित भी करता है। वह 'नृचक्षस' है—लोगों के भावों, विचारों, कर्मों तथा गुणावगुणों को अन्तर्यामी होने के कारण जानता है। मनुष्यों के सभी चरित्र, आचरण और कार्य उससे अविदित नहीं हैं। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार किया है—'जिस प्रकार परमेश्वर स्वकर्मानुसार सब जीवों को फल देता है, वैसे हम भी अपने अधिकार एवं मर्यादा के अनुकूल देवें।' निश्चय ही परमात्मा इस संसार में प्राणिमात्र को उनके यथायोग्य भोगों का न्यायपूर्वक वितरण करता है। वह ब्रह्माण्ड को अपने भीतर समाविष्ट किए हुए है। सभी पदार्थों का आधार होने से वसुसंज्ञक है। चित्र-विचित्र धनों तथा सम्पत्तियों का स्वामी परमेश्वर जो सब प्राणियों का द्रष्टा, अनुशासक तथा नियामक है, वही हमारे द्वारा उपासनीय, प्रार्थनीय तथा प्रशंसनीय है।

■

[६२]

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिꣳ सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ —यजु:० ३१/१

ऋषि—नारायण, देवता—पुरुषः

वेदादि शास्त्रों में परमात्मा को पुरुष कहकर सम्बोधित किया गया है। यह ब्रह्माण्ड एक पुरी (नगर) है और इसमें निवास करनेवाला परमात्मा पुरुष है। शरीर भी एक पुरी है और इसका अधिष्ठाता जीव भी पुरुष है। गीता में जीव और परमात्मा की भिन्नता बतलाते हुए, परम पुरुष ईश्वर को पुरुषोत्तम कहा गया है। प्रस्तुत मन्त्र में इस विराट् पुरुष की महिमा का वर्णन करते हुए उसे सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष तथा सहस्रपाद के विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। परमात्मा सारे प्राणियों में विद्यमान है, अतः उसे सर्वत्र प्रसारित सिरों, नेत्रों तथा पाँवोंवाला कहा है। 'सहस्र' शब्द यहाँ मात्र १००० संख्या का वाचक ही नहीं है; यह 'अनेक' का उपलक्षण है। चराचर जगत् में व्यापक होने के कारण ही उसे सहस्रशीर्षादि विशेषणों से व्यक्त किया गया है। किन्तु उसकी अवस्थिति केवल ब्रह्माण्ड तक ही सीमित नहीं है। यदि हम परमात्मा की स्थिति तथा अस्तित्व को विश्वब्रह्माण्ड तक ही मान लें तो उससे उसका महत्त्व भी सीमित हो जाएगा। फलतः मन्त्र के दूसरे पाद में स्पष्ट किया कि वह इस ब्रह्माण्ड–गोलक को तो अपने भीतर समाए हुए है ही, किन्तु उससे वह स्वयं दश अंगुल की दूरी पर अवस्थित है। दश अंगुल को अभिधार्थ में नहीं समझना चाहिए। इसका अभिप्राय यही है कि परमात्मा सर्व प्राणियों तथा पदार्थों में व्यापक होकर भी उनसे अपनी पृथक् सत्ता रखता है। यदि ईश्वर को ब्रह्माण्ड तक ही सीमित कर दिया जावे, तब तो उसकी व्यापकता भी सीमित हो जाएगी। तब उसे सर्वव्यापक कैसे कहा जाएगा? निश्चय ही उसने ब्रह्माण्ड को अतिव्याप्त कर रक्खा है। ■

[६३]

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाᳬंसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ —यजुः० ३१/७

ऋषि—नारायण, देवता—स्रष्टा ईश्वर

मनुष्य-जाति को वेदों का पावन ज्ञान भी परमात्मा से ही प्राप्त हुआ है। सृष्टि की रचना के आरम्भ में जब ईश्वर ने मनुष्य को दिए जानेवाले ज्ञान के बारे में चिन्तन किया तो उस यज्ञरूप परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नामवाले चार ऋषियों के माध्यम से चारों वेदों की मन्त्रराशि उसे प्रदान की। मन्त्र में ज्ञानप्रदाता पुरुष-परमात्मा को 'यज्ञ' नाम से सम्बोधित किया गया है। वह पूज्यतम यज्ञ-परमात्मा ही मनुष्यों द्वारा एकमेव आराध्य है। उसी के लिए हम उपासकगण, सर्व पदार्थों तथा स्तुतियों को समर्पित करते हैं। ऋचाओं से युक्त ऋग्वेद, कर्मप्रवर्तक यजुर्वेद, उपासनापरक सामवेद तथा छंदोवेद नाम से अभिहित किया जानेवाला चतुर्थ अथर्ववेद उस यज्ञस्वरूप परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ। चारों वेदों में क्रमशः ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विज्ञान का निरूपण है। इनमें शैलीगत भेद भी है जिसे कालान्तर में मीमांसा जैसे शास्त्रों ने स्पष्ट किया है। छंदोविधान के अनुसार निर्मित मन्त्र ऋचाएँ कहलाती हैं। गद्यात्मक मन्त्रों की यजुः संज्ञा है। गानात्मक मन्त्र-समूह को सामवेद कहा जाता है। मूलतः चारों वेदों की विविध शैलियों के कारण यत्र-तत्र वेदत्रयी का उल्लेख मिलता है, किन्तु आलोच्य मन्त्र में 'छन्दांसि' पद से चतुर्थ अथर्ववेद को ग्रहण किया गया है। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ करते हुए मनुष्यों को आदेश दिया है कि जिस परमात्मा से सारे वेद उत्पन्न हुए, उस परमेश्वर की हम उपासना करें, वेदों का अध्ययन करें तथा उसी की आज्ञानुकूल आचरण कर सुख प्राप्त करें।

■

[६४]

ब्राह्मणोऽस्य मुख॑मासीद् बाहू रा॑जन्यः कृतः।
ऊरू तद॑स्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रोऽअ॑जायत॥ ११॥

—यजुः० ३१/११

ऋषि—नारायण, देवता—पुरुष

मनुष्य-समाज का गुण-कर्मानुसार विभाजन ईश्वरोक्त प्रक्रिया है। परमात्मा अपनी सर्वज्ञता से जानता है कि भिन्न-भिन्न प्रकृतियों, प्रवृत्तियों तथा आचरणोंवाला मनुष्य अपने समाज में रहते हुए जिन कर्त्तव्य-कर्मों को स्वीकार करेगा वे भी भिन्न ही होंगे। इसीलिए उसने समाजरूपी इस शरीर में ब्राह्मण को मुख-स्थानीय बनाया। वेद के अध्ययन-अध्यापन, यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों को करने-कराने तथा समाज के विभिन्न घटकों को ज्ञान देने में समर्थ ब्राह्मण निश्चय ही उसका मुख है। समाज के सभी लोग ब्राह्मण से ही नेतृत्व तथा मार्गदर्शन की अपेक्षा रखते हैं। क्षत्रिय-वर्ण समाज की भुजाओं के तुल्य है। जिस प्रकार भुजाएँ रक्षाकार्य में समर्थ होती हैं, उसी प्रकार समाज के सर्वविध रक्षण का दायित्व क्षत्रियों को स्वीकार करना चाहिए। व्यक्ति और समाज को क्षतों (घावों) से बचानेवाले पराक्रमी क्षत्रिय ही होते हैं। वैश्य इस समाजरूपी शरीर के उरु (जंघा) तुल्य हैं। जिस प्रकार उरुओं के बल पर ही शरीर को खड़े होने का सामर्थ्य प्राप्त होता है, उसी प्रकार वाणिज्य-विद्या-कुशल, व्यापार-व्यवसाय हेतु सर्वत्र आने-जाने में निपुण वैश्य मानव-समाज की स्थिति का आधार हैं। किन्तु समाज में शूद्रों का महत्त्व भी कम नहीं है। वह समाजरूपी शरीर का पाद-स्थानीय है। यह सम्भव है कि बौद्धिक सामर्थ्य में वह न्यून ही क्यों न हो, अभिमान-रहित होकर सेवाकर्म में जुटने तथा शारीरिक श्रम के द्वारा समाज को समुन्नत बनाने में शूद्र की भूमिका उपेक्षणीय नहीं है। ■

[६५]

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत।। –यजुः० ३१/१२

ऋषि–नारायण, देवता–पुरुष

यजुर्वेद के पुरुष–सूक्त में आलंकारिक शैली का प्रयोग करते हुए विश्वब्रह्माण्ड के विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति पुरुष–परमात्मा से ही बताई गई है। इसी शैली का प्रयोग गीता के विश्वरूप–दर्शन प्रकरण में भी हुआ है। परमात्मा का ज्ञानरूप सामर्थ्य जो उसका मन कहलाता है, उससे चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई। उसके ज्योतिस्वरूप सामर्थ्य (चक्षु) से सूर्य की उत्पत्ति हुई। इसी उपमा का प्रयोग करते हुए अन्यत्र सूर्य और चन्द्रमा को उसके नेत्र–तुल्य कहा गया है। श्रोत्र के तुल्य ईश्वर का जो अवकाशरूप सामर्थ्य है, उससे वायु तथा उसी के अंगभूत दस प्राणों की उत्पत्ति हुई है। उसके ज्योतिर्मय, भक्षणरूप सामर्थ्य (तुलनीय–अत्ता चराचर ग्रहणात्, वेदान्त १/२/९) से अग्नि की उत्पत्ति हुई। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का भावार्थ करते हुए लिखा है कि यह सारा जगत् ईश्वर से ही उत्पन्न है, अतः चन्द्रमा को उसका मन, सूर्य को चक्षु, वायु और प्राण को श्रोत्र तथा अग्नि को उसका मुखतुल्य कहा गया है। वस्तुतः परमात्मा तो मुखादि इन्द्रियों से सर्वथा रहित ही है, किन्तु यहाँ औपचारिक रूप से ही उसके अंगों का उल्लेख हुआ है।

■

[६६]

**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥**

—यजुः० ३१/१८

ऋषि—उत्तरनारायण, देवता—आदित्य

जिस उपासक ने परमात्मा का दर्शन कर लिया, वह उस दिव्य अनुभव की सार्वजनिक घोषणा करता हुआ कहता है कि मैंने उस महान् पुरुष—ब्रह्माण्डरूपी पुरी में शयन करनेवाले का दर्शन कर लिया है, उसे मैंने जान लिया है। वह दिव्यपुरुष आदित्य-वर्ण है, अखण्ड प्रकाशयुक्त है। वस्तुतः संसार में जितने प्रकाशमान् पदार्थ—सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे, विद्युत्, अग्नि आदि हैं, उन सबको प्रकाशित करनेवाला वह परमात्मा ही है। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** कहकर उपनिषत्कार ऋषि ने उसे ही सर्वप्रकाशक कहा है। वह अज्ञानरूपी अंधकार से परे है। जो स्वयं चेतनरूप, प्रकाशस्वरूप है, भला उसका अज्ञान से सम्बन्ध ही कैसे रह सकता है!

निश्चय ही मृत्युरूपी दुःख पर विजय प्राप्त करने का एकमात्र उपाय उस परमपुरुष को जानना ही है। यों तो इस पाञ्चभौतिक शरीर का अपने कारणों में विलीन होना सुनिश्चित ही है, किन्तु जीवात्मा को जन्म-मरण के बंधनों से मुक्त कर आनन्द के एकमात्र धाम परमात्मा को प्राप्त कराने का साधन भी तो पुरुष-परमात्मा का ज्ञान ही है। आर्य ग्रन्थों की यह सुनिश्चित धारणा है कि मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का उपाय तो परमात्मज्ञान ही है। वैदिकेतर सम्प्रदायों में मुक्ति प्राप्त करने के बहुविध उपाय बताए गए हैं—मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, नामस्मरण, साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड तथा आचार-विचारों का परिपालन आदि; किन्तु वेद ने ईश्वर के ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय की सम्भावना से ही इन्कार कर दिया है, जिसे प्रयुक्त कर मुक्ति की विभीषिका से पीछा छुड़ाया जा सके, अतः स्पष्ट कहा है—नान्यः पन्था—अन्य कोई मार्ग नहीं है। ■

[६७]

प्रजापतिश्चरति गर्भे ऽ अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

—यजुः० ३१/१९

ऋषि—उत्तरनारायण, देवता—आदित्य

पुरुषाध्याय के इस मन्त्र में परमात्मा को प्रजापति कहकर सम्बोधित किया गया है। वह प्रजाओं का स्वामी, विविधरूपा प्रजाओं को जन्म देनेवाला पुरुष प्राणियों के गर्भस्थ जीवात्माओं में अपनी सत्ता से विद्यमान है। वह स्वयं तो कभी जन्म नहीं लेता, स्वरूप से ही अज, अजन्मा, अजायमान है, किन्तु स्व-सामर्थ्य से संसार को उत्पन्न कर उसमें सर्वत्र विचरण करता है। परमात्मा की सर्वत्र विद्यमानता ही उसका अनेक रूपों में प्रकट होना है। ऐसे सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वसामर्थ्ययुक्त परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को जानना धीर, बुद्धिमान् तथा प्रज्ञाशील पुरुषों का ही काम है। अज्ञानी, मूर्ख तथा विवेकहीन मनुष्य परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने में असमर्थ रहता है। वह परमात्मा को या तो प्रस्तर, धातु तथा शिलानिर्मित मूर्तियों में ही देखता है, अथवा अपने ही समान उसे भी जन्म लेनेवाला तथा मनुष्यों की ही भाँति नाना प्राकृत कर्म करनेवाला मान लेता है। इस प्रकार की ईश्वर-विषयक भ्रमात्मक धारणाओं का निराकरण कर मन्त्र स्पष्ट कहता है कि उस सर्वाध्यक्ष, सर्वभूताधिवासी परमात्मा में ही अखिल भुवन, यह विश्व-ब्रह्माण्ड ठहरा हुआ है। ऋषि दयानन्द ने मन्त्र के व्याख्यान में लिखा—"जो सर्वरक्षक ईश्वर स्वयं अनुत्पन्न होता हुआ अपने सामर्थ्य से संसार को उत्पन्न कर उसमें प्रविष्ट होता हुआ विचरण करता है, उसे विद्वान् लोग ही सम्यक् रूप से जानते हैं।" उस जगदाधार परमेश्वर को जानकर ही मनुष्य आनन्द प्राप्त करता है।

■

[६८]

यो देवेभ्य॑ऽआ॒तप॑ति॒ यो दे॒वानां॑ पु॒रोहि॑तः।

पूर्वो॒ यो दे॒वेभ्यो॑ जा॒तो नमो॑ रु॒चाय॒ ब्राह्म॑ये॥ –यजुः० ३१/२०

ऋषि–उत्तरनारायण, देवता–सूर्य

प्रस्तुत मन्त्र का देवता सूर्य है जो परमात्मा तथा भौतिक सूर्य दोनों का ही वाचक है। आध्यात्मिक दृष्टि से सूर्य का अर्थ 'प्रकाशमान् परमात्मा' करना उचित ही है। यह परमात्मा अन्य पृथिवी आदि दिव्य गुणवाले पदार्थों को सम्यक् प्रकार से तपाता है। पृथिवी में जो गर्मी है वह सूर्य से संक्रमित है, किन्तु सूर्य को ऊष्मा देनेवाला तो परमात्मा ही है। वही परमात्मा समस्त देवों का पुरोहित–हितचिन्तक है, उन्हें शुभ मार्गों में ले चलनेवाला है। जड़ पृथिवी आदि देवताओं का समुचित धारण, पालन तथा वर्धन करनेवाला होने से वही परमात्मा उनका भी पुरोहित है और दिव्य गुण–सम्पन्न देवताओं का शुभचिन्तक भी वही है। वह ब्रह्माण्ड की रचना से भी पूर्व स्वयं अपनी शाश्वत सत्ता के कारण विद्यमान था। वस्तुतः भौतिक देवताओं तथा चेतन देवताओं का उत्पत्तिकर्त्ता होने के कारण वह तो पूर्व से ही विद्यमान है। मन्त्र का देवता भौतिक सूर्य लेने पर यह अर्थ करना होगा कि पृथिवी आदि देवताओं की उत्पत्ति से पहले, सूर्य की विद्यमानता थी। ऐसे स्वप्रकाशस्वरूप, अत्यन्त तेजस्वी परमात्मा के लिए हम भक्तगण पुनः–पुनः नमस्कार करते हैं।

■

[६९]

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः।
तदे॒व शु॒क्रं तद् ब्रह्म॒ ताऽआपः॒ स प्र॒जाप॑तिः॥

—यजुः० ३२/१

ऋषि—स्वयंभू ब्रह्म, देवता—परमात्मा

वेदों में एकेश्वरवाद के प्रतिपादक जो मन्त्र हैं, उनमें यजुर्वेद का उपर्युक्त मन्त्र अन्यतम है। यद्यपि वेदमन्त्रों में परमात्मा के विभिन्न कर्मों के द्योतक विभिन्न देवताओं की स्तुति और प्रशंसा की गई है, तथापि अनेक मन्त्रों में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ये विभिन्न देवता एक, अद्वितीय पराशक्ति के ही प्रतीक हैं। वह परमात्मा ही अपने ज्ञान एवं प्रकाश आदि गुणों के कारण अग्नि नाम से पुकारा जाता है। वही ईश्वर ज्ञानरूपी सूर्य का उद्दीपक और प्रकाशक होने के कारण आदित्य कहलाता है और स्वयं प्रबल बलशाली होने के कारण उसे ही वायु कहकर सम्बोधित किया जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों से प्राणिमात्र को शीतलता, शान्ति और सौम्यत्व प्रदान करता है, उसी प्रकार परमात्मा का चिन्तन, मनन और निदिध्यासन भक्त लोगों के हृदय में पवित्रता और शान्ति उत्पन्न करते हैं, अतः परमात्मा को वेदों में चन्द्रमा भी कहा गया है।

मन्त्र की द्वितीय पंक्ति में ईश्वर को शुक्र, ब्रह्म, आपः और प्रजापति, इन चार नामों से सम्बोधित किया गया है। शुद्ध और शक्तिशाली परमात्मा को **शुक्र** कहा गया है। सर्वोपरि श्रेष्ठ और पूज्य होने से वह **ब्रह्म** है, जल की भाँति शान्ति और सान्त्वनादायक होने से वह **आपः** पदवाची है और संसार का निर्माता, भुवनत्रय-पालक तथा समस्त चराचर सृष्टि का सर्जक होने के कारण उसे **प्रजापति** कहकर सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार वेद ने सर्वत्र परमात्मा की ही सर्वोपरि और दिव्य सत्ता को नाना नामों और प्रतीकों से स्पष्ट किया है। ■

[७०]

सर्वे॑ नि॒मे॒षा ज॑ज्ञिरे वि॒द्युतः॒ पुरु॑षा॒दधि॑।
नैन॑मू॒र्ध्वं न ति॒र्य्यञ्चं॒ न मध्ये॒ परि॑ जग्रभत्॥ —यजुः० ३२/२

ऋषि—स्वयंभू ब्रह्म, देवता—परमात्मा

परमात्मदेव को इस मन्त्र में 'विद्युत् पुरुष' कहकर पुकारा गया है। सामान्यतया विद्युत् का अर्थ हम बिजली लेते हैं, किन्तु इस विद्युत् को भी प्रकाश देनेवाला भी तो परमात्मा है। बिना परमात्मा से प्रकाश प्राप्त किए भला विद्युत् की क्या सामर्थ्य कि वह स्वयं प्रकाशित हो तथा इतर वस्तुओं को भी प्रकाशित करे! इस विशिष्ट द्युतिमान् विद्युद्वाची पुरुष से ही निमेष, कला, काष्ठा आदि काल-अवयवों की रचना हुई है। क्षण, पल, मुहूर्त आदि कालवाचक शब्दों का ज्ञान तथा उनका परिमाण भी हमें परमात्मा से ही प्राप्त होता है। उसी ने कालावधि का सृजन किया है। परमात्मा अनन्त और अपार है। वह स्थूल दिशा-प्रदिशा की सीमाओं के बंधन में कभी नहीं आता। जब उसका कोई ओर-छोर ही नहीं है तो कोई कैसे कहे कि मैंने उसे ऊपर से, मध्य से या तिरछे होकर पकड़ लिया है? वस्तुतः ऊपर, नीचे, मध्य, आड़े, तिरछे आदि का विचार तो सीमित पदार्थों के लिए ही होता है। सर्वत्र परिपूर्ण होने से उसके निकट होना, दूर होना, उसके बीच में आना, उसका अतिक्रमण करना आदि शब्दों का प्रयोग मात्र औपचारिक ही है।

■

[७१]

न तस्यं प्र॒ति॒मा ऽ अंस्ति॒ यस्य॒ नामं म॒हद्यशः।
हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भऽइत्ये॒ष मा मां हिंसी॒दित्ये॒षा यस्मा॒न्न जा॒तऽइत्ये॒षः॥
—यजुः० ३२/३

ऋषि—स्वयंभू ब्रह्म, देवता—हिरण्यगर्भ परमात्मा

परमात्मा अप्रतिम है, अनन्य है, अद्वितीय है, अनुपमेय है, अपरिमेय है। उसके तुल्य, उसके सदृश अथवा उसके जैसा अन्य कोई नहीं है। इसी तथ्य को मन्त्र ने स्पष्ट घोषित करते हुए कहा कि उसकी कोई प्रतिमा, प्रतिकृति, आकृति, प्रतीक आदि नहीं है। ऐसे महान् परमात्मा का नाम भी अत्यन्त यशस्वी है। परमात्मा के तुल्य यशवाला अन्य कौन है? उसकी आज्ञाओं का पालन ही उसका नामस्मरण है, अन्यथा मौखिक रूप से उसके नाम का बार-बार उच्चारण सार्थक नहीं है। ऐसे ही परमपिता को यजुर्वेद के अन्य मन्त्रों **हिरण्यगर्भः** (२५/१०), **मा मा हिंसी** (१२/१०२) तथा **यस्मान्न जात** (८/३६, ३७) में स्मृत किया गया है। वस्तुतः इस मन्त्र की भाँति अन्य तीनों मन्त्र भी परमात्मा के दिव्य स्वरूप का ही कथन करते हैं, अतः इन्हीं मन्त्रों के प्रतीकों को आलोच्य मन्त्र के द्वितीय पाद में रखा गया है। ऋषि दयानन्द के अनुसार यह मन्त्र मनुष्यों को प्रतिबोधित करता हुआ कहता है कि जो परमात्मा कभी देहधारी नहीं होता, जिसका कुछ भी परिमाण (नाप-तोल आदि) नहीं है, जिसकी आज्ञा का पालन ही उसका स्मरण तथा भक्ति है और जो भक्तों पर अनुग्रह करनेवाला है, उसका महत्त्व वेदों में अनेक स्थलों पर वर्णित हुआ है। वह न मरता है, न विकृत होता है और न ही क्षीण होता है। उसकी ही सतत उपासना कर्त्तव्य है। उससे भिन्न की उपासना से महान् पाप एवं क्लेश उठाने पड़ते हैं तथा मनुष्यों को दुःख प्राप्त होते हैं। मूर्तिपूजा अथवा परमात्मा की मूर्ति की कल्पना का मन्त्र स्पष्ट रूप से प्रत्याख्यान करता है। ■

[७२]

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—यजुः० ३२/६

ऋषि—स्वयंभू ब्रह्म, देवता—परमात्मा

ऋषि दयानन्द ने आलोच्य मन्त्र का अर्थ करते हुए लिखा—जिस परमात्मा ने तीक्ष्ण स्वभाववाले सूर्यादि प्रकाशमान पदार्थों को धारण किया है, जिसने द्यौलोक और पृथिवी को दृढ़ता से धारण कर रक्खा है, जिसने आकाश में विभिन्न लोक-लोकान्तरों को विशेष मानयुक्त धारण किया है, अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं, उसी प्रकार इन ग्रह, नक्षत्र और तारों को जो भ्रमण कराता है, वही परमात्मा हमारी स्तुति, प्रार्थना और उपासना का अधिकारी है।

संसार में कई वस्तुओं और पदार्थों को मनुष्य ने धारण किया है। बोझ ढोनेवाले श्रमिक सामान्य से अधिक मात्रा में बोझ उठाते हैं और बिना विशेष परिश्रम के पर्याप्त दूरी तक उसे लिये चलते हैं, जबकि साधारण बाबू-वर्ग के लोगों द्वारा यह बोझा उठाना असम्भव हो जाता है। केवल भौतिक पदार्थ ही क्यों, हम ज्ञान, बुद्धि, विवेक, सदाचरण, धर्म आदि अमूर्त पदार्थों को भी धारण करते हैं तथा हमें इस पर गर्व भी होता है। इस प्रकार गुरुतर पदार्थों और दायित्वों के बोझ को उठानेवाला व्यक्ति कभी-कभी अपने भीतर एक प्रकार के अहंकार को जन्म देता है। इसे हम धारणशक्ति-जन्य अहंकार की संज्ञा देते हैं।

परिवार का मुखिया सोचता है कि यदि मैं अपने इस कुटुम्ब का सम्यक् प्रकार से धारण और पालन नहीं करूँ तो पारिवारिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाएगी और मेरे आश्रित जनों की सुख-शान्ति भंग हो जाएगी। उधर राष्ट्र का संचालक और धारक राष्ट्रपति यह सोचता है कि यदि मैंने अपनी प्रजा की रक्षा और उसकी उन्नति में कोताही की तो यह राष्ट्र ही बिखर जाएगा। किसी अंश में यह विचार सत्य भी है क्योंकि

घर, परिवार, नगर, प्रान्त और राष्ट्र के धारण करनेवाले गृहपति, नगरपिता, प्रान्तपति और राष्ट्राध्यक्ष, सभी अपने-अपने दायित्वों को निभाकर ही विश्व-संचालन में अपना सहयोग करते हैं। किन्तु उस अनन्त शक्तिसम्पन्न परमात्मा के धारणजन्य सामर्थ्य का भी चिन्तन करें जिसने अखिल विश्व को धारण कर रक्खा है। द्यौ और अन्तरिक्षलोक, जिस धरित्री पर अखिल प्राणिसृष्टि का निवास है, ये तथा अन्य वसु-संज्ञक लोक-लोकान्तर परमात्मा द्वारा ही धृत हैं। उसी ने अन्तरिक्षलोक में जिन ग्रह, नक्षत्र, तारों आदि को बिना किसी सहारे के ही धारण कर रक्खा है उसकी गुरुता, महत्ता और प्रकृष्टता को हम अनुभव करें और उसी परम पिता के लिए अपनी भक्तियुक्त हवि लेकर उसके समक्ष प्रस्तुत हों। ■

[७३]

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ स ऽ ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु॥
--यजुः० ३२/८

ऋषि—स्वयंभू ब्रह्म, देवता—परमात्मा

वेद ने स्पष्ट कहा है कि परमात्मा को ज्ञानी (वेनः) और मेधावी पुरुष ही जानते हैं। आर्य-शास्त्रों में ज्ञान की महिमा सर्वत्र गाई गई है। **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'**—ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। **'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** (गीता)—ज्ञान के समान अन्य कुछ भी पवित्र नहीं है। इस परमात्मा को ये विद्वान् और ज्ञानी हृदयरूपी गुहा में ही देखते हैं। सर्वव्यापक परमात्मा के दर्शन के लिए यत्र-तत्र भटकने की आवश्यकता नहीं है। वह किसी स्थानविशेष पर नहीं है। ऐसे सच्चिदानन्दघन परमात्मा का साक्षात्कार हृदयरूपी गुहा के भीतर ही किया जाता है। उपनिषदों में अनेकत्र इस हृदयगुफा का उल्लेख मिलता है। इस मन्त्र में परमात्मा को ही सम्पूर्ण संसार का आश्रय-स्थान कहा गया है और यह स्पष्ट करने के लिए उसे एक ऐसा नीड़ (घोंसला) कहा है

जहाँ संसार के सारे प्राणी और पदार्थ आश्रय लेने के लिए एकत्र होते हैं।

यह सारा विश्व-प्रपंच प्रलयकाल में प्रभु में ही विलीन हो जाता है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति का कारण भी वही है। परमात्मा को यहाँ विभु—सर्वत्र व्यापक माना गया है। विभु होने के कारण ही वह सब प्रजाओं, उत्पन्न प्राणियों और चराचर जगत् में ओतप्रोत हो रहा है। वैदिक दर्शन की यह विशेषता है कि यहाँ परमात्मा को एकस्थानीय नहीं माना गया है। संसार का ऐसा कोई कण नहीं, जिसमें वह अद्वितीय चेतन सत्ता समाई न हो। ईश्वर को विभु मानकर ही हम उसको न्यायकारी, सर्वद्रष्टा और सर्वसाक्षी कह सकते हैं। ■

[७४]

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत्॥

—यजुः० ३२/९

ऋषि—स्वयंभू ब्रह्म, देवता—परमात्मा विद्वान्

परमात्मा के बारे में प्रवचन करने का, उसकी व्याख्या करने का तथा उसके स्वरूप का उपदेश करने का सामर्थ्य किसमें है? क्या हर किसी को परमात्मा के स्वरूप-निरूपण का अधिकार प्राप्त है? वेद का स्पष्ट आदेश है—नहीं। जो गन्धर्व है, जिसने वेद-विद्या का अभ्यास किया है तथा जो स्वयं विद्वान् है, वही उस परमतत्त्व की व्याख्या करने में समर्थ है। विद्वान् गन्धर्व लोग इस अमृत—कभी न मरनेवाले परमात्मा का प्रवचन करते हैं जो सत्स्वरूप है तथा प्राणियों के हृदयरूपी गुहा में विराजमान है।

वैदिक दर्शन में परमात्मा को सर्वव्यापक तो कहा ही है, किन्तु उसे प्राप्त करने के लिए हृदय-मंदिर को ही एकमात्र उपयुक्त स्थान बताया है। योग-दर्शन में उपदिष्ट अष्टांगयोग की क्रमशः साधना करने के पश्चात् साधक भक्त अपने हृदयदेश के भीतर ही समाधि-अवस्था में उस अविचल,

कूटस्थ, आनन्द-स्वरूप, चिन्मय ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। वैदिक दर्शन में परमात्मा को सर्वत्र सत् कहकर आख्यात किया है।

जगत्पिता परमात्मा सृष्टि का सृजन, पालन और संहार स्वसामर्थ्य से ही करता है। उसके इन गुण-कर्मों को जाननेवाले ज्ञानवान् पुरुष को ही सच्चे अर्थों में 'पिता' कहा जा सकता है। पिता का प्रयोग मन्त्र में ज्ञानी के अर्थ में हुआ है। परमात्मा के इन तीन प्रकार के सामर्थ्यों को जाननेवाला ही ज्ञानी पिता होता है। ■

[७५]

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा ऽ अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥

—यजुः० ३२/१०

ऋषि—स्वयंभू ब्रह्म, देवता—परमात्मा

वह परमात्मा ही हम जीवों का बंधु, जन्मदाता और विधाता है जो इन विश्व-भुवनों—अखिल लोक-लोकान्तरों को सम्यक् रूप से जानता है। उसी के तृतीय धामरूपी मोक्ष में विद्वान् लोग यथेच्छ विचरते हैं। क्यों न हम भी उसी परमेश को अपना गुरु, आचार्य, राजा और न्यायाधीश मानकर उसकी विशेष प्रकार से भक्ति किया करें?

संसार में हम प्रायः देखते हैं कि लोग अपने बंधु-बांधवों, शुभेच्छु मित्रों, निकट के परिजनों आदि की सहायता और सहयोग लेते हैं तथा उनसे प्राप्त मार्गदर्शन पर भरोसा करते हैं। एक सीमा तक यह उचित भी है, क्योंकि मनुष्य को यदि शुभचिन्तक मित्र, कल्याण करनेवाले मित्र तथा सन्मार्ग में चलने की प्रेरणा देनेवाले पथदर्शक मिल जाएँ तो उसकी जीवन-यात्रा निरापद और प्रशस्त हो जाती है। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिन्हें हम अपना सखा, बंधु, हितेच्छु और हितकर मानते हैं, वे ही हमारे अनिष्ट का विधान करने

में अग्रणी होते हैं। जब लौकिक बंधु-बांधवों, सहायक परिजनों तथा हितचिन्तक मित्रों की यह स्थिति है, तब हम उस परमपिता को ही अपना परम शुभचिन्तक मित्र और बंधु क्यों न बनाएँ जिसने हमको शुभ कर्मों के करने के लिए यह मानवी चोला प्रदान किया है और जो विधाता बनकर हमारे शुभाशुभ कर्मों के अनुकूल फलों का विधान करता है! यदि उस ईश्वर को ही हम अपना बंधु, जनिता, विधाता और वंदनीय मान लें तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी चतुर्विध पुरुषार्थ का लाभ कुछ कठिन नहीं होगा।

प्रस्तुत मन्त्र में जीव तथा ईश्वर के परस्पर सम्बन्धों की विवेचना की गई है। यह तो सत्य है कि जीव और ईश्वर दोनों ही अनादि हैं। ये सदा से हैं, सदा थे और सदा ही रहेंगे। तथापि जीव की अल्पज्ञता, अल्प सामर्थ्य, एकदेशीय स्थिति आदि के कारण वह परमात्मा से अपना नाता पुत्र, शिष्य, मित्र और प्रजा का ही जोड़ सकता है। अन्ततः जीवात्मा का पिता (और माता भी), गुरु, सखा और स्वामी (राजा) परमात्मा ही है। **'त्वं हि नः पिता वसो'**, **'स पूर्वोषामपि गुरु'** जैसे शास्त्रवाक्य इस कथन को पुष्ट करते हैं। वह परमात्मा ही हमारा गुरु, आचार्य, राजा और न्यायाधीश है तो हमें मिलकर उसी की भक्ति करनी चाहिए।

परमात्मा की सर्वज्ञता इसी बात से सिद्ध है कि वह सम्पूर्ण लोकों को जानता है। जनक ही तो स्वसृष्टि को जानेगा। पूर्व-काल के देवों-विद्वज्जनों-मोक्षकामी पुरुषों ने उस परमात्मा की पूजा, उपासना और भक्ति के द्वारा ही अमृतमय मोक्ष को प्राप्त किया है। उसे प्राप्त करने का भी तो यही मार्ग है कि हम उसकी एकान्त भाव से भक्ति करें, उसका आश्रय लेवें तथा उसी से मार्गदर्शन प्राप्त करें। **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** कह वेद ने स्पष्ट कर दिया कि आदित्य वर्ण, महान् तेजस्वी परमात्मा को जाने बिना मृत्यु पर विजय पाने और अमृतरूपी मोक्ष प्राप्त करने का ईश्वराराधना से अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। ■

[७६]

यां मे॒धां दे॑वग॒णाः पि॒तर॑श्चो॒पास॑ते।
तया॒ माम॒द्य मे॒धयाग्ने॑ मे॒धावि॑नं कुरु॒ स्वाहा॑॥ –यजु:० ३२/१४

ऋषि–मेधाकाम, देवता–परमात्मा

वैदिक धर्म में मेधा–प्राप्ति को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। मेधा के लिए प्रज्ञा, बुद्धि, धी आदि अन्य नाम भी संस्कृत–भाषा में आते हैं। मनुष्यों तथा अन्य पशु–पक्षियों को पृथक् करनेवाला तत्त्व मेधा ही है जिसे विवेक भी कहा जा सकता है। पशुओं और मनुष्यों में आहार, निद्रा, भय, सन्तानोत्पादन आदि क्रियाएँ तो समान ही हैं, किन्तु इनको पृथक् करनेवाले तत्त्व को नीतिकार ने धर्म के नाम से अभिहित किया है। यह धर्म मेधा तथा विवेक के द्वारा ही निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार मेधा–बुद्धि के महत्त्व को अनुभव करते हुए वैदिक काल के ऋषियों ने परमात्मा से मेधा की ही याचना की है। आलोच्य मन्त्र में अग्नि नामवाले जगदीश्वर से उपासक प्रार्थना करता हुआ कहता है कि जिस मेधा–बुद्धि का सेवन विद्वान् देवगण तथा हमारा पालन करनेवाले पितरगण करते आए हैं, उसी मेधा से आप हमें अविलम्ब मेधावी बनाएँ। मनुष्य को चाहिए कि वह धन, ऐश्वर्य आदि अन्य भौतिक पदार्थों को प्राप्त करने में चाहे कितना ही विलम्ब कर दे, किन्तु मेधा प्राप्त करने में उसे स्वल्प भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। यह मेधा केवल प्रार्थना से ही नहीं मिलती। इसके लिए साधक को प्रयत्न करना पड़ता है। वेदों के विभिन्न मन्त्रों में मेधा, प्रज्ञा तथा धी नाम से अभिहित होनेवाली बुद्धि की प्रार्थनाएँ मिलती हैं। योगसाधना से जिस प्रज्ञा को निर्मल बनाया जाता है, उसे पातञ्जल दर्शन में ऋतम्भरा कहा गया है। इस प्रज्ञा तथा मेधा को ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य बनाना चाहिए।

■

[७७]

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा॥

—यजुः० ३२/१५

ऋषि—मेधाकाम, देवता—परमेश्वर-विद्वांसौ

जिस उत्कृष्ट मेधा-बुद्धि की याचना हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि करते आए हैं, वह बुद्धि हमें किससे प्राप्त होती है? किस देव की आराधना से यह मेधा हमें मिले? इसी प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में दिया गया है। वस्तुतः परमात्मा से ही उस मेधा की याचना हमें करनी चाहिए। हम वरुणदेव से मेधा की याचना करें। श्रेष्ठ व्रतों के पालक तथा न्यायकारी वरुण से हम मेधा के लिए प्रार्थना करें। तेजस्वी, अग्रगामी नेता-तुल्य अग्नि-परमात्मा से हम इसी बुद्धि की प्रार्थना करते हैं। समस्त प्रजाओं का स्वामी प्रजापति परमात्मा हमारी याचना को स्वीकार कर हमें मेधावी बनाए। इसी प्रकार परम ऐश्वर्यवान् और सर्वसामर्थ्ययुक्त इन्द्र परमात्मा हमें मेधा देने में समर्थ है। सर्वत्र गतिशील और वायु को भी गति एवं बल देनेवाले वायु नाम से पुकारे जानेवाले परमेश्वर से हम मेधा चाहते हैं। सकल संसार का धारणकर्ता वह प्रभु मुझे वही धारणावती बुद्धि प्रदान करे जो हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियों को प्राप्त हुई थी तथा जिसके द्वारा वे संसार में अपने सर्वविध कल्याण-साधन तथा अन्ततः मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ हुए। वरुण आदि मन्त्रगत सभी नाम ईश्वर के ही हैं।

[७८]

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

—यजुः० ३४/१

ऋषि—शिवसंकल्प, देवता—मन

मनुष्य में मन एक अद्भुत शक्ति है। मन के द्वारा मनुष्य अपनी कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों को नियंत्रित करता है। विवेकपूर्वक उन्हें बाह्य विषयों में नियोजित करता है। मन को लेकर संस्कृत-साहित्य में अनेक सूक्तियाँ एवं सुभाषित प्रचलित हैं। मन को ही मनुष्य के बंधन एवं मोक्ष का कारण बताया गया है—**मन एवं मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।** गीता में अर्जुन ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि मन अत्यन्त चंचल है, इन्द्रियों को मथ देनेवाला तथा अत्यन्त बलशाली है, अतः इसको वश में करना भी अतीव कठिन है। कृष्ण अर्जुन की इस धारणा से तो सहमत हैं कि मन का वशीकार कठिन है, क्योंकि सदा चंचल रहता है—जब उसमें स्थैर्य ही नहीं है तो उसे नियंत्रित करना निश्चय ही दुष्कर है, परन्तु गीता के प्रवक्ता इसका उपाय भी बताते हैं। वे अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा मन का निग्रह सम्भव मानते हैं। इस कथन में सत्य तो है ही। निरन्तर अभ्यास के द्वारा तथा सांसारिक विषयों से इन्द्रियों को पृथक् रखकर वैराग्य-साधन के द्वारा मन का वशीकार सम्भव है।

वेद ने भी मन के विज्ञान को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यजुर्वेद के ३४तें अध्याय के आरम्भिक छः मन्त्र मन के शिव-संकल्पमय होने की कामना करते हैं। प्रथम तो मन्त्र में मन की चंचलता तथा उसके आशुगामी होने का उल्लेख किया गया। मन ही एक ऐसा तत्त्व है जो मनुष्य की जागृतावस्था में तो दूर चला जाता ही है, सुप्तावस्था में भी वह यत्र-तत्र भटकता है। जागृतावस्था में तो मनुष्य मन की इस चंचलवृत्ति को अनुभव भी करता है, किन्तु आश्चर्य तब

होता है जब हम देखते हैं कि सुप्तावस्था में मनुष्य का शरीर तथा इन्द्रियाँ चाहे सर्वथा निष्क्रिय हो शैया-स्थित हैं, किन्तु उसका मन इस अवस्था में भी सक्रिय है तथा वह स्वप्नलोक का निर्माण कर इतस्ततः भ्रमण करता है, अनेक प्रकार के मायालोकों का निर्माण करता है तथा असम्भव को भी सम्भव होता देखता है। ऐसा अनायास ही दूर चले जानेवाला तथा शब्दादि विषयों की प्रकाशक इन्द्रियों को भी प्रकाशित करनेवाला हमारा यह मन शिव-संकल्पोंवाला हो। हमारे संकल्प कल्याणकारी तथा हमें धर्माचरण में प्रवृत्त करनेवाले हों। इस प्रकार मन को शिव-संकल्पयुक्त करने की प्रार्थना मन्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य है। ■

[७९]

येन कर्माण्युपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

—यजुः० ३४/२

ऋषि—शिवसंकल्प, देवता—*मन*

मनुष्य स्वभाव से ही कर्मशील है। शास्त्रों में यह स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य के लिए क्षणभर भी कर्म को छोड़कर अकर्मण्य होकर बैठना सम्भव नहीं है। यदि कोई व्यक्ति कर्म करने में अनिच्छा भी प्रकट करे, तब भी कर्म की प्रवृत्ति उसे बलात् कर्म में नियोजित कर देती है। इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर बुद्धिमान् लोग अपने मन को यज्ञ-कर्म में प्रवृत्त करते हैं। वे समष्टिहित तथा लोकोपकार के उन कृत्यों को करते हैं जिन्हें शास्त्र 'यज्ञ' की संज्ञा प्रदान करता है। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए यज्ञ का अर्थ अग्निहोत्र, धर्मसंगत-व्यवहार तथा योगाभ्यास किया है। धीर पुरुष तथा विचारशील विद्वान् ही ऐसे लोकहित-विधायक यज्ञ-कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, किन्तु ये यज्ञ तभी सफल होते हैं जब उन्हें पूर्ण मनोयोगपूर्वक किया जाए। मनुष्य का यह मन अपूर्व इस अर्थ में है क्योंकि यह सर्वोत्तम गुण-कर्म-स्वभावों का प्रवर्त्तक है,

साथ ही यह यक्ष भी है। पौराणिक साहित्य में 'यक्ष' एक योनि-विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा, किन्तु वैदिक साहित्य में यह शब्द पूज्य पुरुष का वाचक था। आलोच्य मन्त्र में मन को प्रजाजनों के भीतर रहनेवाला कहा है और मन्त्रद्रष्टा की कामना है कि ऐसा मेरा मन शिव-संकल्पयुक्त होवे। ऋषि ने मन्त्र का भावार्थ करते हुए लिखा—'मनुष्य को चाहिए कि वे परमात्मा की उपासना से, सुविचार, विद्या, सत्संग आदि पवित्र साधनों से अपने अन्तःकरण (मन) को अधर्मों से हटाएँ तथा धर्माचरण में प्रवृत्त करें।' ■

[८०]

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

—यजुः० ३४/३

ऋषि—शिवसंकल्प, देवता—मन

मन के द्वारा ही मनुष्य अनेक प्रकार की सूक्ष्म शक्तियों तथा प्रवृत्तियों को उपार्जित करता है। प्रज्ञान (प्रकृष्ट ज्ञान) की प्राप्ति मन से ही सम्भव है। चित्त जो स्मृति का आधार है, वह भी अन्तःकरण की एक प्रवृत्ति-विशेष ही है। इसलिए स्मरणशक्ति का तीव्र होना भी मन पर ही निर्भर है। धैर्य तथा लज्जा जैसे मनोवेग भी मन द्वारा ही संचालित तथा परिष्कृत होते हैं। धैर्य एक ऐसा गुण है जो इन्सान की चारित्रिक उदात्तता का प्रतीक है। यदि हम अपने मन को साध लेते हैं तो हममें धैर्य का आ जाना स्वाभाविक ही है। नाना प्रकार के द्वन्द्व तथा मन को अस्थिर करनेवाले प्रसंग मनुष्य के मन को चंचल तथा अधैर्यवान् बना देते हैं। मान-अपमान, हर्ष-शोक, निंदा-स्तुति, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व मन के धैर्य का अपहरण कर लेते हैं। इसी प्रकार अनियंत्रित मनवाला व्यक्ति लज्जा के भाव को तिलाञ्जलि देकर पूर्णतया अधार्मिक बन जाता है। मन्त्र स्पष्ट कहता है कि प्रज्ञान, स्मृति, धैर्य तथा लज्जादि का कारण भी मन ही है। सत्य तो यह है कि मन के सहयोग के

बिना मनुष्य के लिए किसी भी कृत्य का करना सम्भव ही नहीं है। इसलिए मन को सर्वकर्म-साधक कहा गया है। ऋषि ने मन्त्र के भावार्थ को स्पष्ट करते हुए कहा कि यह मन अन्तःकरण-चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) का प्रकाशक तो है ही, सब श्रेष्ठ कर्मों को सिद्ध करनेवाला भी है। इसे हम सत्य तथा न्यायाचरण में प्रवृत्त करें तथा पक्षपात, अन्याय एवं अधर्म से दूर रखकर उसे शिव-संकल्पोंवाला बनाएँ। ■

[८१]

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

—यजुः० ३४/४

ऋषि—शिवसंकल्प, *देवता—मन*

मनुष्य की सार्वकालिक क्रियाओं का संचालक, प्रेरक तथा नियन्ता मन ही है। विगत काल में जो कुछ हुआ, वह स्मृति के रूप में मन में सुरक्षित है। वर्तमान में जो हो रहा है, वह भी मन की प्रेरणा से ही हो रहा है। भविष्य में जो कुछ होना है अथवा जिसे करने की योजना हम बनाते हैं, वह भी मन से ही प्रेरित होती है। मन को यह शक्ति अमृतस्वरूप परमात्मा से ही मिली है, जिसके कारण उसने सब कालों में घटनेवाली घटनाओं को अपने भीतर समाविष्ट कर लिया है।

अग्निष्टोमादि श्रौतयज्ञ तथा लोकहित की सिद्धि के लिए किए जानेवाले सभी उपकारी कृत्यों का सम्पादन भी याज्ञिक लोग मनोनिवेशपूर्वक ही करते हैं। यदि मन का सहयोग नहीं मिले तो यज्ञादि कर्मों का सम्यक् सम्पादन भी सम्भव नहीं होता। जब साधारण कर्मों में भी मन की मुख्य भूमिका होती है तो यज्ञ-सम्पादन जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य में तो निश्चय ही मन का सर्वाधिक महत्त्व होगा। ऋषि दयानन्द इस मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं कि जो चित्त योगाभ्यास के साधन एवं

उपसाधनों से सिद्ध हुआ भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों का ज्ञाता है तथा जो कर्म, उपासना तथा ज्ञानरूपी यज्ञों का साधक है, वह हमारा मन शिव-संकल्पवाला हो। ■

[८२]

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

—यजुः० ३४/५

ऋषि—शिवसंकल्प, देवता—मन

मन तो समग्र ज्ञान का आधार है। सर्वोत्कृष्ट ईश्वरीय ज्ञान भी मन में ही रहता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद, इस मन में ही समाए हैं। जिस प्रकार रथ के पहिए के बीच में अरे लगे रहते हैं, उसी प्रकार मन के विभिन्न प्रकोष्ठों में चारों वेदों का ज्ञान व्यवस्थित रहता है। यथावकाश हम कभी ऋग्वेद की ऋचाओं का स्मरण करते हैं, कभी कर्मकाण्डों का संचालन करते समय तथा विविध यज्ञों का सम्पादन करते हुए यज्ञकर्म-विधायक यजुर्वेद के मन्त्रों का प्रयोग करते हैं। किसी अन्य समय सामवेद के मन्त्रों का गायन कर प्रभु की उपासना में तल्लीन हो जाते हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद का ज्ञान भी हमारे मन में ही समाया हुआ है। जिस प्रकार सूत्र में मणियाँ पिरोई जाती हैं, उसी प्रकार मनुष्य के मन के भीतर उसके द्वारा उपार्जित सारा ज्ञान समाया रहता है। ज्ञान-विज्ञान का भण्डार यह हमारा मन शुभ-संकल्पोंवाला हो। उसमें कल्याण तथा मंगल के भाव उदित होते रहें। ऋषि दयानन्द ने मन्त्र के भावार्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा—'जिस मन के स्वस्थ रहने पर ही वह वेदादि विद्याओं का आधार बनता है तथा जिसमें मनुष्य के सारे ज्ञान और व्यवहार एकत्र रहते हैं, वह अन्तःकरण विद्या और धर्म के आचरण से निरन्तर पवित्र रहे।'

■

[८३]

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
—यजुः० ३४/६

ऋषि—शिवसंकल्प, देवता—मन

रथ के संचालन में सारथी का सर्वाधिक योगदान होता है। यदि अर्जुन को कृष्ण-जैसा योग्य सारथी न मिलता तो वह महाभारत के युद्ध में अपने प्रचण्ड बल का प्रदर्शन कैसे कर पाता? कर्ण का यह दुर्भाग्य ही था कि उसे शल्य-जैसा सारथी मिला जो सदा उसे हतोत्साहित ही करता रहा। मनुष्य की जीवन-यात्रा भी शरीररूपी रथ के सहारे चल रही है। शरीरस्थ इन्द्रियाँ इस रथ के घोड़े हैं, किन्तु इन घोड़ों को वश में करनेवाला सारथी मनुष्य का मन ही है। योग्य सारथी जैसे लगाम को कसता हुआ घोड़ों को वश में रखकर रथ का संचालन करता है तथा रथ के स्वामी को गन्तव्य स्थान तक पहुँचा देता है, उसी प्रकार सधा हुआ मन भी इन्द्रियों को पूर्ण वश में रखकर पुरुषार्थ-चतुष्टय प्राप्त कराता है।

मन का स्थान कहाँ है? मन्त्र कहता है—यह मन हमारे हृदय में प्रतिष्ठित है। इसे कभी जरावस्था व्याप्त नहीं होती। शरीर चाहे बूढ़ा हो जाए परन्तु मन को कभी वृद्धावस्था नहीं सताती। शारीरिक दृष्टि से अशक्त हो जाने पर भी मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ यथावत् बनी रहती हैं। मन के वेग (जव) का तो कहना ही क्या! जहाँ मनुष्य-शरीर का पहुँचना शक्य नहीं होता, वहाँ मन का पहुँच जाना नितान्त सहज है। मन अपनी कल्पना-शक्ति के बल पर न जाने कितनी मानसिक क्रीड़ाएँ करता है। ऐसे परम शक्तिशाली मन के शिव-संकल्पयुक्त होने की हम कामना करते हैं।

[८४]

**प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं॑ हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं॑ पूषणं ब्रह्मणस्पतिं॑ प्रातः सोम॑मुत रुद्रं॑ हुवेम॥**

—यजुः० ३४/३४

ऋषि—वसिष्ठ, देवता—अग्न्यादयो लिंगोक्ताः

मनुष्य जब ऊषाकाल में शैया—त्याग करे तो उसे सर्वप्रथम परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए। उस परम प्रभु का स्मरण करता हुआ वह उनसे प्रार्थना करे कि मेरा आज का दिन धर्मपूर्वक कर्त्तव्य—कर्मों को करने में ही व्यतीत हो। कोई अनर्थ तथा पापकर्म हमसे न हो, एतदर्थ हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं। ऊषाकाल की इस प्रार्थना में परमात्मा को अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है। वह पवित्र तथा स्वयं प्रकाशमान् होने के कारण अग्नि नाम से पुकारा जाता है। वही परमपिता परमैश्वर्यवान् होने के कारण इन्द्र नाम से अभिहित किया जाता है। परमात्मा हमारा मित्र और शुभचिन्तक है, अतः वेद उसे मित्र नाम से पुकारता है, जब कि सर्वोपरि शासक तथा सर्वनियन्ता होने के कारण वही वरुण है। परमात्मा को ही उपासकगण अश्विन् भी कहते हैं, क्योंकि जिस प्रकार अध्यापक—उपदेशक मनुष्यों के हितार्थ उपदेश और प्रवचन करते हैं, उसी प्रकार परमात्मा भी अपने वैदिक ज्ञान के द्वारा हमारा पथप्रदर्शन करता है। परमात्मा ही परम ऐश्वर्यवान् होने से भग तथा भगवान् है। वही पोषणकर्ता तथा पुष्टिप्रदाता होने के कारण पूषन् है तथा वेदज्ञान का स्वामी एवं प्रदाता होने के कारण उसे ही ब्रह्मणस्पति कहा गया है। इस प्रकार परमात्मा के अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अश्विन्, भग, पूषन् तथा ब्रह्मणस्पति आदि नामों का उच्चारण, स्मरण तथा चिन्तन करते हुए हम अपनी प्रातःकालीन प्रार्थना का आरम्भ करें तथा आगे के चार मन्त्र बोलकर इस प्रार्थना—पञ्चक को पूरा करें। ■

[८५]

पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन।
स्तोतारस्त ऽ इह स्मसि।। —यजुः० ३४/४१

ऋषि—सुहोत्र, देवता—पूषा

वेदों में परमात्मदेव को नाना नामों से पुकारा गया है। जहाँ अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि अनेक नाम वेदों में परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुए हैं, वहाँ पूषा भी उसी का एक नाम है जिसे लेकर अनेक सूक्त ऋग्वेद में आए हैं। उपासक पूषा-परमात्मा को सम्बोधन कर कहता है—हे पुष्टि प्रदान करनेवाले पूषन् देव! हम आपके द्वारा निर्दिष्ट व्रतों का निरन्तर पालन करते हैं और उनसे कभी विमुख नहीं होते। वेदों में व्रत शब्द का अनेकत्र प्रयोग हुआ है। अग्नि को व्रतपति कहा है तथा उसी का अनुकरण करते हुए जीवों को भी उन्हीं व्रतों का पालन करने के लिए प्रेरित किया गया है जो वेदों में वर्णित हुए हैं। वेदोक्त मर्यादाओं का पालन ही वैदिक व्रतों का धारण है। परमात्मा की भक्ति वस्तुतः उसके बताए नियमों का पालन तथा तदनुकूल जीवनयापन करना ही है। उपासक भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता हुआ परमात्मा को सम्बोधित कर कहता है कि हम आपके द्वारा बताए गए मार्ग पर चलने के लिए कृतसंकल्प हैं और उससे कभी विमुख नहीं होंगे। परमात्मा के उपदेशों के प्रतिकूल चलना ही मनुष्य के लिए विनाश को आमंत्रित करना है। ईश्वर के व्रतों का पालन करके ही उसके उपासक स्तोतागण सुखी होते हैं और उनके सुखों का कभी विनाश नहीं होता।

[८६]

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥ —यजुः० ३६/२

ऋषि—दध्यङ्ङाथर्वणः, देवता—बृहस्पति

मनुष्य अपूर्ण है। उसकी शारीरिक, बौद्धिक तथा मानसिक शक्तियाँ भी सीमित हैं। वह पूर्णता के लिए परमात्मा से प्रार्थना करता है। मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ न्यूनता अथवा दुर्बलतावश विकल हो जाती हैं। चक्षु को यहाँ अन्य सभी इन्द्रियों का प्रतीक कहा गया है। इसी प्रकार मनुष्य के भावनाप्रवण हृदय तथा मननशक्ति के आधार मन में भी न्यूनताएँ रहती हैं। मन्त्र में इन्हें छिद्र कहा गया है। इन्द्रियों तथा मन की यह विकलता मनुष्य को अत्यन्त पीड़ित तथा व्याकुल बना देती है। नेत्रों की विकलता दृष्टिहीन बना देती है। कानों की दुर्बलता श्रवणशक्ति को कुण्ठित करती है। घ्राणशक्ति की न्यूनता नाक के रोगों से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार मन की दुर्बलता मनुष्य को संकल्पहीन बनाकर अकर्मण्य बना देती है। इन्द्रियों और मन की इन त्रुटियों और न्यूनताओं से मानव का पीड़ित होना स्वाभाविक ही है। तब इसका उपाय क्या है? उपाय यही है कि लोक-लोकान्तरों के स्वामी बृहस्पति परमात्मा से हम प्रार्थना करें कि वह हमारी इन शारीरिक तथा मानसिक कमजोरियों को दूर करे। वह कल्याणस्वरूप तो है ही, अतः हमारे लिए सर्वाधिक कल्याण-मार्ग को प्रशस्त करे।

■

[८७]

इन्द्रो विश्वस्य राजति। शन्नो ऽ अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।।

—यजु:० ३६/८

ऋषि—दध्यङ्ङाथर्वणः, देवता—इन्द्र

वेदों में परमात्मा का गुणानुवाद विभिन्न नामों से किया गया है। कहीं उसे अग्नि, तो कहीं उसे इन्द्र कहकर पुकारा गया है। मित्र, वरुण, सोम, पूषा आदि भी उसी के नाम हैं। परम ऐश्वर्यवान् और समस्त ब्रह्माण्ड के नियंत्रक एवं संचालक होने के कारण परमात्मा की इन्द्र संज्ञा है। संसार में सर्वत्र इस ऐश्वर्यशाली इन्द्र की ही महिमा तथा प्रभुता दिखाई पड़ती है। वह स्वयं भी अपने तेज और ओज से प्रकाशित हो रहा है तथा संसार को भी प्रकाशित कर रहा है। अखिल ब्रह्माण्ड में जो प्रकाशमान् वस्तुएँ हैं, वे परमात्मा के दिव्य प्रकाश का एक कणमात्र ग्रहण करके ही प्रकाशित हो रही हैं। इसी भाव को उपनिषद् ने निम्न श्लोक में व्यक्त किया है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।

उस एक के प्रकाश से ही ये सूर्य, चन्द्र, तारागण, विद्युत् तथा अग्नि प्रकाश प्राप्त करते हैं। ऐसे विश्व-ब्रह्माण्ड के स्वामी तथा उसमें विराजनेवाले इन्द्र परमेश्वर से हमारी प्रार्थना है कि वह संसार में रहनेवाले, द्विपादधारी मनुष्यों तथा चतुष्पादधारी पशुओं पर कल्याणों की सतत वर्षा करे। द्विपादधारी मनुष्य और चतुष्पाद गौ आदि पशुओं को समस्त प्राणिमात्र का उपलक्षण समझना चाहिए। परमात्मा तो सभी का हितेच्छु है।

■

[८८]

शन्नों मित्रः शं वरुणः शन्नों भवत्वर्य्यमा।
शन्नऽइन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥ –यजुः० ३६/९

ऋषि–दध्यङ्ङाथर्वणः, देवता–मित्रादयो लिंगोक्ता

वेदों में परमात्मा के लिए विभिन्न नामों के प्रयोग को देखकर अनेक पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विद्वानों को यह भ्रान्ति हुई है कि इन ग्रन्थों में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन नहीं है, अपितु वे एक से अधिक देवताओं की पूजा–उपासना का विधान करते हैं। किन्तु यह धारणा अलीक़ है, कारण कि वेदों में जिन–जिन देवताओं की स्तुति है वह सब परमात्मा को ही लक्ष्य में रखकर की गई है। इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु तथा उरुक्रम से जो कल्याण–याचना की गई है, वह वस्तुतः ईश्वर के प्रति की गई प्रार्थना ही है। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र को सत्यार्थप्रकाश के आरम्भ में मंगलवचन के रूप सार्थ प्रस्तुत किया है। प्राणों के तुल्य प्रिय सखा होने से परमात्मा मित्र नाम से पुकारा जाता है। जल के तुल्य शान्तिप्रद होने से वह वरुण है। जीवों के कर्मफलों का प्रदाता होने से अर्यमा न्यायाधीश भी वही है। परम ऐश्वर्ययुक्त होने से वही इन्द्र नाम से पुकारा जाता है। अत्यन्त बुद्धिशाली तथा वाणियों का प्रदाता परमात्मा बृहस्पति–पद–वाच्य है। सर्वत्र व्यापक होने से उसी की विष्णु संज्ञा है तथा विचित्र कर्म करनेवाला परमात्मा उरुक्रम नाम से स्मरण किया जाता है। परमात्मा अपनी प्रजारूपी जीवों के लिए सदा कल्याण और मंगल की सृष्टि करे, इससे अधिक सुन्दर और लोकहित–विधायक प्रार्थना अन्य क्या हो सकती है!

■

[८९]

शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ ऽ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑।
शंयोर॒भि स्र॑वन्तु नः॥ —यजुः० ३६/१२

ऋषि—दध्यङ्ङाथर्वणः, देवता—आपः

प्रस्तुत मन्त्र का देवता आपः है जो सामान्यतया जल का वाचक माना जाता है। इसी आपः को 'देवी' कहकर पुकारा गया है। देवी आपः दिव्य जलों का प्रतीक है, किन्तु मन्त्र का जब हम आध्यात्मिक अर्थ निरूपित करते हैं तो यही आपः कल्याण और मंगल की वृष्टि करनेवाले परमात्मा का वाचक हो जाता है। जिस प्रकार शीतल जल का पान मनुष्य को शारीरिक शान्ति, स्फूर्ति तथा बल प्रदान करता है, उसी प्रकार परमात्मा भी अपनी प्राणिसृष्टि के लिए शुद्ध एवं सत्त्वगुणयुक्त जलों की वर्षा कर निखिल विश्व को शान्ति तथा सुख देता है। मनुष्यों को चाहिए कि अभीष्ट सुखों की प्राप्ति के लिए वे दिव्य जलों की भाँति शान्ति, सौमनस्य तथा सुखों की वर्षा करनेवाले परमात्मा की आराधना करें। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र को दैनिक संध्योपासना के आरम्भ में किए जानेवाले आचमन की क्रिया में विनियुक्त किया है। महर्षि का यह विनियोग सार्थक तथा रूप-समृद्ध है, क्योंकि हथेली पर जल लेकर आचमन की जो क्रिया की जा रही है उसमें भी यही भाव निहित है कि उपासनारूपी यज्ञ के आरम्भ में किया जानेवाला यह आचमन साधक को जागरूक, एकाग्रचित्त तथा स्थिर बनाने में समर्थ है। उसी प्रकार परमात्मा भी 'आपः' नामवाला है और वह समस्त सृष्टि में सुख, कल्याण, मंगल आदि का प्रसारक है। भौतिक जलों की वर्षा ताप-सन्तप्त प्राणियों को सुख और आह्लाद पहुँचाती है तो परमात्मा द्वारा की जानेवाली सुखवृष्टि भी हमारे अभीष्ट की सिद्धि के लिए ही है।

[९०]

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥ —यजुः० ३६/१७

ऋषि—दध्यङ्ङाथर्वणः, देवता—ईश्वर

वेदों की शिक्षाएँ निखिल लोक-हितकारिणी तथा चराचर जगत् में सुख, शान्ति तथा सौमनस्य के भावों की प्रसारक हैं। वेदमन्त्रों का आधार लेकर एक आस्तिक मनुष्य जो प्रार्थना करता है, वह केवल अपनी आत्मा, शरीर, मन और बुद्धि के विकास के लिए ही नहीं होती; उसकी प्रार्थना में निखिल लोक के कल्याण और विश्व के व्यापक हित की भावना निहित होती है।

आज के ईर्ष्या, विद्वेष, कलह तथा पारस्परिक विरोध में ग्रस्त जन-समाज का हित तभी सम्भव है जब वह वेदोक्त प्रार्थना और मंगलकामना को पुनः अपनाए। ऐसा होने पर वह अपने वैयक्तिक हित को भूलकर समष्टिहित की बात सोचेगा। इसी स्थिति में उसके मुख से निम्न उद्गार निकलेंगे—

हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करें जिससे यह प्रकाशयुक्त द्यौलोक हमारे लिए शान्तिकर हो, यह अन्तरिक्षलोक भी शान्तिदायक हो। जिस पृथिवी पर हम प्राणियों का निवास है, वह अपने सुख एवं शान्तियुक्त क्रोड़ में हमें रहने का स्थान प्रदान करे। शरीर को स्वस्थ, बलवान् और स्फूर्ति देनेवाले जल हमें शान्ति प्रदान करें तथा जलों से उत्पन्न होनेवाली नाना ओषधियाँ भी हमें शान्ति दें। वानस्पतिक जगत् हमें शान्ति दे।

यहाँ तक तो जड़ पदार्थों की चर्चा हुई। त्रिविध लोक तथा पृथिवी पर प्रवाहित होनेवाले जलस्रोत निखिल प्राणिजगत् के लिए शान्तिकर हों। इसके पश्चात् जलों से उत्पन्न अन्न,

वनस्पति, ओषधि आदि का उल्लेख कर मानव-जीवन के विधायक उन तत्त्वों से शान्ति मिलने का भी निर्देश इस मन्त्र में आया है।

जड़ वस्तुएँ शान्तिदायक हों, यह तो प्रार्थना-कर्त्ता की कामना है ही, किन्तु संसार के विद्वान् तथा उनकी वाणी भी हमारे लिए शान्तिदायक हो—यह प्रार्थना साधक के उत्कृष्ट बौद्धिक स्तर की द्योतक है। संसार के विद्वान् भी अपनी बुद्धि तथा चिन्तन-शक्ति वेदों से ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि वेद ही सत्य विद्याओं का आकर है, वह सर्वज्ञानमय है। फलतः उपासक की प्रार्थना है कि ब्रह्म शब्द से अभिहित वेद तथा इसी नाम से पुकारा जानेवाला परमात्मा हमारे लिए शान्तिदायक हो। क्षुद्र मनुष्यों द्वारा स्वार्थपूर्ति-हेतु रचे गए ग्रन्थों ने जहाँ संसार में अत्याचार और अनिष्ट की वृद्धि की है, वहाँ परमात्मा के दिव्य ज्ञान वेदों की सार्वभौम शिक्षाओं ने मनुष्यों में परस्पर प्रेम, सद्भाव तथा मैत्री के भावों की अभिवृद्धि की है।

शान्ति-हेतु की जानेवाली इस प्रार्थना की परिणति तो तभी होती है जब हम कहें कि संसार में सर्वत्र शान्ति प्रसारित हो तथा शान्ति स्वयं हमारे लिए शान्तिप्रदाता हो। यह शान्ति यदि मुझे प्राप्त हो तो आपके लिए भी हो। अखिल मानवसृष्टि ही नहीं, अपितु चराचर जगत् शान्ति की सुखद अनुभूति करता रहे—यही मन्त्र का मूल अभिप्राय है।

■

[९१]

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।
—यजुः० ३६/१८

ऋषि—दध्यङ्ङाथर्वणः, देवता—ईश्वर

वेदों में प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भावना रखने का उपदेश मिलता है। यह सारी सृष्टि उस परमात्मा के द्वारा निर्मित है जो अविद्यारूपी अंधकार का निवारण करनेवाला तथा अपने भक्तों में विश्वमैत्री के भाव को दृढ़ करनेवाला है। उस परमात्मा को जगत् का हितैषी मानकर हम उससे प्रार्थना करें कि हे प्रभो, सब प्राणियों के प्रति हमारे मन में मित्र का भाव रहे। हम किसी से वैर–विरोध न करें और न किसी को शत्रु समझें। हमारे नेत्रों से प्यार, सद्भावना तथा स्नेह की स्निग्ध धाराएँ प्रवाहित होती रहें। सार्वभौम मैत्री भावना के प्रेरक इस मन्त्र को आज के मानव यदि अपना आदर्श बना लें तो संसार में व्याप्त अशान्ति, शत्रुता तथा विरोध के भावों का शमन हो सकता है। जब हमारी दृष्टि अन्यों के प्रति प्रेम और मैत्री की भावना से परिपूर्ण होगी तो अन्य लोग भी हमारे प्रति उसी प्रकार का प्रीति–भाव रक्खेंगे। वेद के इस विश्व–मैत्री के आदर्श को संसार में प्रसारित करने का उद्योग अनेक महापुरुषों ने किया था। कृष्ण ने गीता में ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल को समान दृष्टि से देखनेवाले को समदर्शी पण्डित कहा है। बुद्ध ने स्पष्ट घोषणा करते हुए कहा कि वैर का शमन वैर के द्वारा नहीं होता, प्रेम तथा मैत्री के प्रसार से ही प्राणिमात्र को एकसूत्र में बाँधना सम्भव है। दयानन्द का विश्व–मानववाद भी यही संदेश देता है।

■

[९२]

यतो यतः समीहसे ततो नो ऽ अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥ —यजु:० ३६/२२

ऋषि—दध्यङ्ङाथर्वणः, देवता—ईश्वर

संसार में जो कुछ अच्छा हो रहा है, वह सब ईश्वर–प्रेरित ही है। परमात्मा की सद्–चेष्टाएँ हमें सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही हैं। सागर की लहरों में, नदियों के कल–कल स्वर में, पक्षियों के कलरव में, पत्तों की मर्मर ध्वनि में, शिशु की अस्फुट वाणी में हमें ईश्वरीय चेष्टा के दर्शन होते हैं। सर्वव्यापक होने के कारण परमात्मा को किसी स्थान–विशेष पर जाने की आवश्यकता नहीं होती। हम मन से जिस वस्तु का चिन्तन करते हैं, शारीरिक चेष्टा द्वारा किसी वस्तु को प्राप्त करते हैं, अपने पैरों से चलकर किसी स्थान पर पहुँचते हैं, परमात्मा हमें वहाँ पहले से ही विद्यमान नजर आते हैं। उनका पराक्रम, उनकी चेष्टा तथा उनकी शक्ति का प्रसार सर्वत्र है। जब ईश्वर की चेष्टाएँ और उसके दिव्य क्रियाकलाप ने सारी सृष्टि को अधिव्याप्त कर रक्खा है तो हमारे लिए किसी बाह्य वस्तु से भय होने का तो कोई कारण ही नहीं है। मनुष्य के भय का कारण तो उसी के सजातीय अन्य मनुष्य बनते हैं अथवा वह हिंसक पशुओं से भी भयभीत हो जाता है। आस्तिकता का एक बड़ा लाभ है उपासक को निर्भीक बनाना। आस्तिकता से मनुष्य में नैतिक मूल्यों का विकास होता है, जिसके कारण उसमें चारित्रिक दृढ़ता, सदाचार के प्रति निष्ठा, परोपकार–भावना आदि के गुण विकसित होते हैं। यही आस्तिकता और ईश्वर को सर्वत्र मौजूद मानने का भाव उसे निखिल प्राणियों से निर्भीकतापूर्वक पक्षपातरहित व्यवहार करने की प्रेरणा देता है।

■

[९३]

ई॒शा वा॒स्य॒मि॒दꣳ सर्वं॒ यत्किञ्च॒ जग॑त्यां॒ जग॑त्।
तेन॑ त्य॒क्तेन॑ भुञ्जीथा॒ मा गृ॑धः॒ कस्य॑ स्वि॒द्धन॑म्॥

—यजुः० ४०/१

ऋषि—दीर्घतमाः, देवता—आत्मा

वैदिक आस्तिक भावना वैश्विक दर्शन का एक अमूल्य उपहार है। इसमें परमात्मा की अद्वितीय तथा सर्वोपरि सत्ता को चराचर संसार का नियामक ही नहीं, अपितु विश्वब्रह्माण्ड के कण-कण में विद्यमान माना गया है। कालान्तर में जब वैदिक ईश्वरवाद की अवधारणा में नाना प्रकार की विसंगतियों तथा तर्कहीन अंधविश्वासों का प्रवेश हुआ तो ईश्वर के एक स्थान-विशेष पर निवास करने, समय-समय पर उसके मनुष्य के रूप में अवतरित होने, मनुष्य की ही भाँति नाना प्रकार के कर्मों में संलग्न रहने जैसे विचार उसमें जुड़ते गए। यही कारण है कि परमात्मा को सर्वत्र विद्यमान माननेवाला पौराणिक हिन्दू भी किसी स्थान-विशेष में उसकी खोज करता है तथा मंदिर-स्थित मूर्तियों में ही उसे देखता है। किन्तु वेद का ईश्वर-विषयक सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि इस संसार में जो कुछ है अथवा हमें दिखाई पड़ता है, उस सब में ईश्वर की सत्ता मौजूद है। प्रकारान्तर से यह संसार ही परमात्मा का आवास है। किन्तु संसार तो सीमित है, जबकि परमात्मा असीमित है। यदि हम परमात्मा के सर्वव्यापक होने के इस विचार को स्वीकार कर लें तो हमारी नैतिक अवधारणाएँ अत्यन्त परिष्कृत हो जाएँगी और उन अनेक पाप-कर्मों से बच जाएँगे जो हम सम्भवतः इस धारणा के वशीभूत होकर कर बैठते हैं कि हमारे किए हुए कर्मों को कोई देखनेवाला नहीं है।

जब हमने समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड को ईश्वर से आवासित मान लिया तो हमें सांसारिक वस्तुओं को भोगने के बारे में भी

कुछ दिशानिर्देश मिल जाते हैं। यह तो निश्चित है कि संसार के पदार्थ मनुष्य के उपयोग के लिए ही निर्मित हैं। सांख्यदर्शन में इस विचार को मान्यता मिली है कि प्रकृति के परमाणु जब परस्पर मिलकर किसी पदार्थ का रूप धारण करते हैं तो वह नवनिर्मित वस्तु किसी चेतन सत्ता के लिए ही होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार के अन्न, जल, वस्त्र, फल तथा अन्य पदार्थ भी मनुष्य तथा इतर प्राणियों के उपभोग के लिए ही हैं। तथापि, वेद ने इसकी मर्यादा भी बाँधी है। हम हन पदार्थों का उपभोग तो अवश्य करें, किन्तु वह मर्यादित होना चाहिए। हम उतना ही खाएँ जितना हमारी भूख को शान्त करने के लिए आवश्यक हो। हम उतने ही वस्त्र रक्खें जितने हमारे शरीर की सुरक्षा के लिए जरूरी हों। योगदर्शन में इसी भावना को 'अपरिग्रह' कहकर सम्बोधित किया गया है। त्याग-भाव से भोग अथवा कर्त्तव्य-कर्म करते हुए संसार में रहना भी इसी का नाम है। सांसारिक पदार्थों का भोग करते समय भी हम इतने सावधान रहें कि हमारा भोग अतिवादिता की सीमा तक न चला जाए।

जब मनुष्य की भोगासक्ति बढ़ती है तो वह अपने पुरुषार्थ के द्वारा संचित धन की सीमा का अतिक्रमण कर अन्यों के धन, स्वत्व तथा पदार्थों को बलपूर्वक छीनने या येन-केन-प्रकारेण स्वायत्त करने का क्षुद्र प्रयास करता है। इसे हम मनुष्य की गृद्ध-वृत्ति कहते हैं। जिस प्रकार मृत पशु के मांस का लोभ गृद्ध को उस मृतक पशु पर झपटने के लिए विवश कर देता है, उसी प्रकार लालची इन्सान भी स्वविवेक को खोकर अन्यों के ऐश्वर्य को हस्तगत करने का दुष्प्रयास करता है। वेद इस अनर्थकारी लोभ की प्रवृत्ति को त्यागने की बात कहकर यह घोषित कर देता है कि वास्तव में भौतिक सम्पत्ति और ऐश्वर्य तो इस संसार में ही रह जाते हैं। अकेला धर्म ही परलोक का साथी बनता है। जब यह धन हमारा है ही नहीं और न होनेवाला है तो हम उसकी प्राप्ति के लिए हाय-हाय क्यों करें? ■

[९४]

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

—यजुः० ४०/२

ऋषि—दीर्घतमाः, देवता—आत्मा

मनुष्य और कर्म का अनिवार्य सम्बन्ध है। गीता में कृष्ण ने कहा है कि कर्म में कुशलता दिखाना ही योग है। मनुस्मृति की प्रसिद्ध उक्ति है कि कोई व्यक्ति एक क्षण के लिए भी कर्म का त्याग करके निकम्मा नहीं बैठ सकता। संसार में जो कुछ हो रहा है, जो घटनाएँ घट रही हैं, वे सब मनुष्य की कार्मिक चेष्टाओं का ही परिणाम हैं। उपनिषदों में मनुष्य को क्रतुमय=कर्ममय कहा है—**क्रतुमयोऽयम् पुरुषः।** उपनिषद्, गीता और मनु की ये समस्त धारणाएँ वेदाधारित ही हैं। इस प्रसंग में यजुर्वेद का यह मन्त्र स्पष्ट कहता है कि हे मनुष्य, तू निरन्तर कर्म करता हुआ सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा कर। जिजीविषा—जिन्दा रहने की इच्छा—मनुष्य की सहजात प्रवृत्ति है। जीवन के लिए निरन्तर संघर्ष करना तथा जीवन-हानि को रोकना मनुष्य का स्वभाव है। जब हमें इस संसार में न्यूनातिन्यून सौ वर्ष रहना ही है, तो क्यों न हम कर्म के मार्ग को चुनें? वैदिक चिन्तन में कर्म-विराम के लिए कहीं भी आदेश नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्र की राजकुमार रोहित के प्रति यही चेतावनी है कि उसे निरन्तर चलना है, आगे बढ़ना है, कर्म से क्षणभर के लिए भी अवकाश नहीं लेना है। किन्तु कर्म क्या है, अकर्म क्या है और विकर्म क्या है—इसे समझने के लिए गीता-जैसे अध्यात्म-शास्त्रों की सहायता लेनी पड़ेगी जहाँ कर्त्तव्य कर्म, काम्य कर्म, फलासक्ति को त्यागकर किए जानेवाले कर्मों पर विस्तार से विचार किया गया है।

कालान्तर में भारत तथा अन्य देशों में भी कर्म को

त्यागकर विशुद्ध कर्मसंन्यास की प्रवृत्ति को बल मिला। भारत में जैन और बौद्धों से भिन्न ऐसी विचारधाराएँ भी थीं जिन्होंने अकर्मण्यता और स्वयं को नियति (भाग्य) के भरोसे छोड़ देने का उपदेश दिया। ईसाई मत तथा इस्लाम के सूफी सम्प्रदाय में भी कर्मत्याग को ही प्रकारान्तर से प्रश्रय मिला। किन्तु वेद स्पष्ट घोषणा करता है कि कर्म को स्वीकार किए बिना तो मनुष्य के लिए अन्य कोई मार्ग ही नहीं है। मनुष्य अन्य कुछ करे या न करे, किन्तु जीवन-निर्वाह के लिए तो उसे कुछ-न-कुछ पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा। यही कारण है कि सर्वकर्म-परित्यागी चतुर्थाश्रमी संन्यासियों ने चाहे गृहस्थ, नाते, परिवार आदि को छोड़कर पुत्र, वित्त और लोक की ऐषणाओं का त्याग किया, किन्तु उदर-पोषण के लिए उन्हें घर-घर जाकर भिक्षा संग्रहण का कार्य करना ही पड़ता है। ऐसी स्थिति में क्या कर्म को सर्वथा त्याग देने की बात करना निरा पाखण्ड नहीं है? बुद्ध, महावीर, शंकर और दयानन्द जैसे वैराग्यकामी महापुरुषों ने भी आजीवन अपने विचारों के प्रसार के लिए कर्ममय पुरुषार्थ ही किया।

तथापि, वेद एक चेतावनी भी देता है। कर्म आप अवश्य करें, किन्तु निर्लिप्त भाव से, फलासक्ति के विचार को त्याग कर। मात्र इसीलिए कर्म करें क्योंकि यह आपका कर्त्तव्य है। यदि कर्मों में आसक्ति बनी रही, तो उससे जीवन नरक बन जाएगा। कर्म में आसक्ति मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेगी और वह विषयासक्त होकर अपने श्रेयमार्ग को भुला बैठेगा। इसीलिए वेद में श्रेय और प्रेय नामक दो मार्गों की चर्चा की गई है—एक सीमा तक प्रेयस्—जो हमें प्रिय है, उसे भी हम स्वीकार करें; किन्तु हमारा अन्तिम लक्ष्य श्रेय=निःश्रेयस्=मोक्षप्राप्ति ही होना चाहिए। इसी अभिप्राय को दयानन्द तथा तत्सदृश अन्य आचार्यों ने ज्ञान एवं कर्म के समन्वय के रूप में व्यक्त किया, जब कि आचार्य शंकर ने कर्म का खण्डन कर मात्र ज्ञान को ही श्रेयस्कर कहा और वे अपने अनुयायियों को संसार के मिथ्यात्व तथा मायावाद की कुज्झटिकाओं में फँसा गए। ■

[९५]

असुर्य्या नाम ते लोका ऽ अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।

—यजुः० ४०/२

ऋषि—दीर्घतमाः, देवता—आत्मा

लोग आत्महत्या क्यों करते हैं? विधाता के दिए इस शरीर को, देवताओं की अपराजेय इस अयोध्यापुरी को क्यों कभी जल में डुबोकर, अग्नि में जलाकर अथवा पिस्तौल की गोली स्वयं पर चलाकर तथा जहरीली गोलियाँ खाकर नष्ट करते हैं? वस्तुतः निराशा, हताशा, अवसाद तथा पराजय के ही वे क्षण होते हैं, जब मनुष्य अपनी भावनाओं पर नियंत्रण नहीं कर पाता और अपघात कर बैठता है। किन्तु केवल दैवप्रदत्त इस शरीर को ही असमय में अकारण नष्ट कर देना आत्महत्या नहीं है। आत्मा के प्रतिकूल आचरण करना भी आत्महत्या ही है। वेद के उपर्युक्त मन्त्र में इसी आत्मा के विपरीत आचरण कर आत्महत्यारा बनने के भयंकर परिणाम का संकेत किया गया है।

ऋषि दयानन्द के अनुसार जब कोई मनुष्य दुष्कर्म करने में प्रवृत्त होता है तो उसे उस कुमार्ग से निवृत्त होने की जो चेतावनी मिलती है, वह उसकी अन्तस्थ आत्मा में विराजमान परमात्मा की ओर से ही होती है। यों लोक में इसे 'आत्मा की आवाज' तथा 'अन्तःकरण की आवाज' का नाम भी दिया जाता है। स्वामी दयानन्द की उक्त धारणा की पुष्टि गीता के इस कथन से भी होती है जिसमें कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया।। (१८/६१)

सब प्राणियों के हृदयदेश में परमात्मा विराजमान है और यंत्र का संचालन करनेवाली शक्ति की ही भाँति वह सब प्राणियों को स्वकर्त्तव्य-पालन करने के लिए निरन्तर प्रेरित

करता रहता है।

जब यह सिद्ध हो गया कि आत्मा के विपरीत आचरण करना स्वयं को प्रवञ्चित करने तथा निसर्ग से विद्रोह करने के तुल्य है तो वेद यह बतलाना भी नहीं भूलता कि ये आत्महत्यारे लोग मरकर किस लोक को प्राप्त करते हैं। वेद ने इन लोकों को असुरलोक कहा है। देव और असुर, देवासुर-संग्राम, दैवी और आसुरी सम्पत्ति—ये सभी शब्द वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र पाए जाते हैं। मोटे तौर पर आत्मा को माननेवाले, विश्व-नियंता परमात्मा की दिव्य सत्ता तथा संसार के संचालन में उसके नियमों और व्यवस्था को माननेवाले मनुष्य देव-संज्ञक हैं; और मात्र शरीरसुख के चाहनेवाले, संसार में भूत तत्त्व (जड़वाद) से भिन्न किसी दिव्य चेतन सत्ता को अस्वीकार करनेवाले असुर कहलाते हैं। उपनिषदों में ऐसे अनेक उल्लेख हैं जहाँ दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का पार्थक्य स्पष्ट किया गया है। गीता में तो दैवी और आसुरी सम्पत्ति का द्विविध विभाजन कर इनके अन्तर्गत आनेवाले गुणावगुणों का विस्तार से परिगणन किया गया है। प्रस्तुत मन्त्र में इतना और कह दिया गया कि इस जीवन में आत्महनन, स्वात्मा के प्रतिकूल आचरण करनेवाले चाहे थोड़े समय के लिए सुख और सन्तोष भी प्राप्त कर लें, किन्तु मरकर तो उन्हें अंधकारमय असुर-लोकों की प्राप्ति होगी। यदि वे मनुष्येतर योनियों में जन्म लेते हैं तो विचार, विवेक, बुद्धि, धर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य से नितान्त अपरिचित रहकर मात्र इन्द्रियतृप्ति को ही जीवन का एकमात्र इतिकर्त्तव्य मानेंगे; और यदि उन्हें किसी कारण से मनुष्य का चोला मिल भी गया तो वे असुरों-जैसा आचरण कर स्वार्थी, दम्भी, अत्याचार करनेवाले, मात्र शिश्नोदर-परायण होकर ही रह जाएँगे। वेद कहता है—ऐसे असुर-लोक हमारे लिए कदापि काम्य नहीं हो सकते, तो फिर हम आत्महन्ता क्यों बनें?

[९६]

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ –यजुः० ४०/५

ऋषि–दीर्घतमाः, देवता–आत्मा

परमात्मा को लेकर संसार के मत–मतान्तरों में नाना प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं। जैसाकि कह गया है–Man has created God in his own image–मनुष्य ने परमात्मा की रचना (कल्पना) अपने ही अनुकरण पर की है। यही कारण है कि अधिकांश लोग परमात्मा को भी मनुष्य की ही भाँति आने–जानेवाला मानते हैं। मत–सम्प्रदायों में परमात्मा के किसी स्थानविशेष में रहने के विचार मिलते हैं। तीर्थस्थानों का महत्त्व भी इसीलिए हुआ, क्योंकि लोगों ने यह मान लिया कि परमात्मा का निवास काशी, प्रयाग, हरिद्वार, रामेश्वर अथवा काबा आदि में है। प्रस्तुत मन्त्र कहता है कि अज्ञानी लोग परमात्मा को हिलता–डुलता मानते हैं। उनके अनुसार परमात्मा भी गति करता है। किन्तु ज्ञानी और विचारशील तो परमात्मा को ऐसा नहीं मानते। गति और हलचल कूटस्थ नित्य परमात्मा में नहीं होती। हाँ, यह हम कह सकते हैं कि संसार में जड़ पदार्थों को गति देनेवाली शक्ति ईश्वरीय शक्ति ही है। केनोपनिषद् में यक्ष के उपाख्यान के द्वारा यह बताया गया कि अग्नि, वायु और जल आदि भूतों को जो जलाने, उड़ाने तथा भिगोने की शक्ति मिली है, वह परमात्मा से ही मिली है। एक अन्य औपनिषदी श्रुति (कठ० ६/३) कहती है–

भयादस्य अग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयाद् इन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

'उस ब्रह्मशक्ति के भय (अनुशासन) से ही अग्नि में ताप की शक्ति आती है, उसके भय (नियम में रहने) से ही सूर्य तपता है। इन्द्ररूपी विद्युत्–शक्ति तथा वायु में प्रवाहित

होने की शक्ति भी परमात्मा-प्रदत्त है। यहाँ तक कि मृत्यु भी किसी प्राणी के जीवन को समाप्त करने के लिए परमात्मा की आज्ञा या प्रेरणा से ही दौड़ती है।' यह सब होने पर भी परमात्मा हम संसारी प्राणियों की भाँति गति नहीं करता। वह अज्ञानियों के लिए तो दूर है, किन्तु ज्ञानीजन उसे सदा समीप ही पाते हैं। एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की दूरी के अनेक कारण होते हैं। भौगोलिक दूरी भी होती है तो अज्ञानजन्य दूरी भी होती है। परमात्मा से हमारी भौगोलिक दूरी तो सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वह सर्वव्यापक और सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से सर्वत्र विद्यमान है। तब भला उसे हम दूर कैसे मानें? हाँ, इतना तो है कि जिसने उसके वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना, उसके लिए तो परमात्मा दूर ही है। जब तक अज्ञानजन्य दूरी रहेगी तब तक तो ईश्वर का दर्शन उसके अत्यन्त निकट होने पर भी सम्भव नहीं होगा।

तो फिर ईश्वर कहाँ है? वह हमारे भीतर है। न केवल हमारे हृदय में, अपितु ब्रह्माण्ड के कण-कण में विद्यमान है। विश्व का कोई ऐसा कण नहीं जिसमें ईश्वरीय सत्ता न हो। जड़ प्रकृति तथा एकदेशी चेतन जीव से भी सूक्ष्म होने के कारण परमात्मा का निवास चराचर जगत् में सर्वत्र है। किन्तु यह कहकर भी कदाचित् हम ईश्वर को सीमित मान लेंगे। यदि विश्व-ब्रह्माण्ड की इयत्ता या सीमा है तो उसमें व्याप्त परमेश्वर भी उसी के भीतर रहने से उतनी ही सीमावाला हो जाएगा। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। परमात्मा उस विश्व से पृथक् अपनी अमृतमयी सत्ता में सदा एकरस विद्यमान रहता है। इसी अभिप्राय को यजुर्वेद के पुरुषाध्याय में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

परमात्मा की विश्व में व्यापकता तो उसकी महिमा है ही, किन्तु वह तो उससे भी बड़ा है। इसीलिए हम उसे भीतर और बाहर सर्वत्र देखते हैं। ■

[९७]

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति।। –यजुः० ४०/६

ऋषि–दीर्घतमाः, देवता–आत्मा

वैदिक संस्कृति एवं चिन्तन में आत्म-तत्त्व को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। आत्मा शब्द वैदिक शास्त्रों में जीव तथा परमात्मा दोनों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की उक्ति वैदिक दर्शन का सार-तत्त्व है। सभी प्राणियों में अपने ही समान आत्म-तत्त्व को मानना प्राणिमात्र की एकता तथा सर्वभूत-हित के दिव्य सिद्धान्त का मूल है। जिस प्रकार संसार के अन्य प्राणी हमारे सदृश आत्म-तत्त्व को धारण किए हैं, उसी प्रकार उत्कृष्ट आत्मा–परमात्मा भी उनमें विराजमान है। जब हम सब प्राणियों को अपने ही समान मानें तथा सभी प्राणियों में अपनी ही आत्मा के सदृश आत्मा को देखें तो फिर सारी विचिकित्सा, परेशानियाँ, संभ्रम आदि दूर हो जाते हैं। मनुष्य के समक्ष इस प्रकार की विचिकित्सा या भ्रम का भाव उत्पन्न ही तब होता है, जब हम अपने को अन्य प्राणियों से भिन्न कोटि का मानकर उनके प्रति अन्यायाचरण तथा अत्याचार करने के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। किन्तु जब हमें इस आत्म-तत्त्व की व्यापकता का बोध हो जाता है तो हमारा परिपूर्ण समाधान हो जाता है। इस समय कर्त्तव्याकर्त्तव्य की मीमांसा करने में कोई कठिनाई नहीं होती और हम प्राणिमात्र को अपने ही समान मानने लगते हैं। यही विश्वबंधुत्व, विश्वमैत्री वैदिक धर्म का प्राण है जिसका परवर्ती साहित्य में अनेक प्रकार से व्याख्यान किया गया है। जैन, बौद्ध और इस्लाम में भी मनुष्य की एकता का जैसा निरूपण किया गया है, वह भी वेद के उपर्युक्त सिद्धान्त के ही अनुकूल है। वस्तुतः समग्र जीव-सृष्टि में चेतन आत्मा और परमात्मा की पराशक्ति को देखना ही मनुष्य-जीवन का प्रमुख लक्ष्य है। ■

[९८]

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः॥ —यजुः० ४०/७

ऋषि—दीर्घतमाः, देवता—आत्मा

मानवी सृष्टि एकता के भाव से जुड़ी है। यों मनुष्य ने रंग, आकार, देश, भाषा, आकृति तथा मतादि के आधार पर अपने-आप में अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न कर लिये हैं, किन्तु इन पृथक् करनेवाली प्रवृत्तियों का विशेष महत्त्व न. है। अन्ततोगत्वा हमें मनुष्यमात्र की एकता को स्वीकार करना ही पड़ता है। मानव की एकता ही वह सोपान है जिस पर चढ़कर समस्त चेतन जगत् के प्राणिवर्ग की एकता की हम बात करते हैं। सभी प्राणियों में हमारे जैसी ही आत्मा का निवास है। घट-घट-व्यापी परमात्मा जैसे एक सम्राट् में विद्यमान है, वैसा ही वह क्षुद्र कीट, पतंग तथा पशु-पक्षी में भी है। विराट् चेतन संसार की यह एकता आत्म-तत्त्व की एकता के सिद्धान्त पर ही आधारित है। गीता में इसी अभिप्राय को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

समदर्शी पण्डित और विद्वान् यह जानता है कि विद्या आदि गुणों से सम्पन्न ब्राह्मण में जिस आत्मा का निवास है, वैसी ही आत्मा गाय और हाथी में भी है। कुत्ते-जैसे तुच्छ जीव तथा मनुष्य-समाज में स्वकर्मों के कारण हेय समझे जानेवाले चाण्डाल में भी वैसी ही चैतन्य आत्मा निवास करती है। वास्तव में इस आत्म-तत्त्व को सर्वत्र, सब प्राणियों में विद्यमान जानने के पश्चात् मोह और शोक जैसी मानसिक विकृतियों और पीड़ाओं के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। कारण स्पष्ट है। अब हमने प्राणिजगत् की एकता के उस सूत्र को जान लिया है जिसके ज्ञान से हमें यह बोध हो जाता है कि अज्ञान और सज्ञान, पठित और अपठित, क्षुद्र और महान्, सभी प्राणी आत्मतत्त्व-सम्पन्न हैं। ■

[९९]

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥
—यजुः० ४०/८

ऋषि—दीर्घतमा, देवता—आत्मा

यजुर्वेद का ४०वाँ अध्याय जीव तथा परमात्मा का ज्ञान कराता है। वैदिक साहित्य में परमात्मा को जिन विशेषणों से पुकारा गया है, उनमें से कतिपय यहाँ दिए गए हैं। परमात्मा सर्वत्र व्यापक होने से 'पर्यगात्' कहा गया है। सर्वशक्तिमान् और तेजस्वी होने से वह 'शुक्र' है। शरीरधारी न होने से उसे 'अकाय' भी कहा गया है। वस्तुतः वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण—त्रिविध शरीरों से रहित है। जब शरीर ही नहीं तो उसके व्रण होने या नस—नाड़ी के होने की तो सम्भावना ही नहीं है। फलतः उसे 'अव्रण' और 'अस्नाविर' कहा गया है। अविद्यादि दोषों से रहित होने से वह 'शुद्ध' है तथा हम—जैसे जीवों की भाँति पापलिप्त न होने से 'निष्पाप' है। सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता होने से वह 'कवि' है तथा सर्व प्राणियों की मनोवृत्तियों का ज्ञाता होने के कारण 'मनीषी' है। दुष्टों और पापियों का विनाशक होने से उसे 'परिभूः' कहा जाता है। अपनी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्ता को धारण करनेवाला होने से वह 'स्वयंभू' है। अनादिस्वरूप परमात्मा संयोग—वियोग, उत्पत्ति—विनाश, वृद्धि—क्षयादि से सर्वथा पृथक् अपनी सत्ता में ही स्वतन्त्र है। इन गुणों को धारण करनेवाला परमात्मा अपनी आत्मारूपी प्रजाओं के लिए यथार्थ भाव से वेद द्वारा समस्त पदार्थों का ज्ञान कराता है। ऐसा वेद—वर्णित परमात्मा ही हम सब का पूज्य, उपास्य और आराध्य है।

■

[१००]

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर । क्लिबे स्मर । कृतꣳ स्मर॥

—यजुः० ४०/१५

ऋषि–दीर्घतमा, देवता–आत्मा

वैदिक दर्शन ने मनुष्य को सतत कर्म करने की प्रेरणा दी है, इसलिए उसे आर्ष ग्रन्थों में क्रतु (कर्मशील) कहकर पुकारा गया है। जब मनुष्य के जीवन का अन्त निकट आता है तो उसे वेद ने परमात्मा के सर्वश्रेष्ठ नाम ओम् के स्मरण करने का आदेश दिया है। यही वह समय है जब वह इस जीवन की कर्मशृंखला से स्वयं को मुक्त करता है और आगे के जीवन की तैयारी करता है। भगवत्–स्मरण से मनुष्य को उस सामर्थ्य की प्राप्ति होती है जिससे वह मृत्यु की विभीषिका का सामना करने में समर्थ होता है। वेद की इस भावना को गीताकार ने भी अनुमोदित किया है। वहाँ भी कृष्ण कहते हैं—ओम् जो एकाक्षर ब्रह्म है, उसका निरन्तर उच्चारण और स्मरण करते हुए जो व्यक्ति प्राण–त्याग करता है, वह परमात्मा को प्राप्त करता है। मृत्यु को समक्ष आया देखकर मनुष्य–जीवन के विगत कर्म भी चित्रपट की भाँति उसके समक्ष आ जाते हैं। यही वह क्षण है जब वह अपने किए हुए कर्मों का स्मरण करता है। उसे अपने द्वारा किए हुए दुष्कर्मों पर पश्चात्ताप होता है। स्वयं–कृत शुभ कर्म भावी यात्रा के लिए संबल का काम करते हैं। निश्चय ही मानव का शरीर तो भस्म हो जाता है, किन्तु उसका प्राण–वायु शरीर को छोड़कर अविनाशी सूक्ष्म शरीर का अंग बनता है और आगामी जन्म की तैयारी करता है। यजुर्वेद के इस मन्त्र में परमात्मा को ओ३म् कहकर सम्बोधित किया गया है।

■■

डॉ० भवानीलाल भारतीय की कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियाँ

१. **जीवनचरित**–नवजागरण के पुरोधा–दयानन्द सरस्वती, श्रद्धानन्द-जीवनकथा, पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा, श्रीकृष्णचरित, आदि।

२. **वेदविषयक**–वेदाध्ययन के सोपान, वैदिक स्वाध्याय, उपनिषदों की कथाएँ, यजुर्वेदीय अध्यात्मशतक, आदि।

३. **मौलिक गवेषणात्मक ग्रन्थ**–आर्य लेखक कोश, आर्य समाज के साहित्य का इतिहास, भारतवर्षीय मतमतान्तर समीक्षा, महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द, आदि।

४. **सम्पादित ग्रन्थ**–सम्पादकाचार्य रुद्रदत्त शर्मा ग्रन्थावली, श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, उपदेश मंजरी, दयानन्द शास्त्रार्थ-संग्रह, बिखरे मोती, आर्ष गीता, दयानन्द सूक्ति मुक्तावली।

५. **अनूदित ग्रन्थ**–गुजराती से–सूरज बुझाने का पाप, गीता तथा हमारे प्रश्न, मीमांसा दर्शन। अंग्रेजी से–आर्य समाज, पं० गुरुदत्त विद्यार्थी (लाला लाजपतराय लिखित)।

यजुर्वेदीय अध्यात्म शतक

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द